

तूने नींद खराब कर दी

मैं अब भी यहीं हूँ
संघर्ष, त्याग, आत्मसम्मान
और आत्मनिर्भरता की
एक प्रेरणादायक सच्ची कहानी।

सोनिया गुप्ता



BlueRose ONE^{.com}
S t o r i e s M a t t e r

New Delhi • London

BLUEROSE PUBLISHERS

India | U.K.

Copyright © Sonia Gupta 2026

All rights reserved by author. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior permission of the author. Although every precaution has been taken to verify the accuracy of the information contained herein, the publisher assumes no responsibility for any errors or omissions. No liability is assumed for damages that may result from the use of information contained within.

BlueRose Publishers takes no responsibility for any damages, losses, or liabilities that may arise from the use or misuse of the information, products, or services provided in this publication.



BlueRoseONE
Stories Matter
New Delhi • London

For permissions requests or inquiries regarding this publication,
please contact:

BLUEROSE PUBLISHERS

www.BlueRoseONE.com

info@bluerosepublishers.com

+91 8882 898 898

+4407342408967

ISBN: 978-81-6744-397-7

Cover Design: Ajay Dhyani

Typesetting: Sagar

First Edition: October 2026

समर्पण

जय श्री राधे

मेरे पिता विजय कुमार गुप्ता को

जिन्होंने मुझे हौसला दिया, मेरी क्षमता को दिशा दी और मेरी हिम्मत को बनाए रखा | जिस वक्त दुनिया मुझे खो चुकी थी, मैं एक अलग इंसान की तरह जागी। एक पूर्णता आयी जो मैंने वर्षों में नहीं महसूस की थी क्योंकि उनका प्रेम मुझ तक पहुंचा जिस वक्त कोई अन्य भावना मुझ तक नहीं पहुंच सकी। उनकी मौजूदगी मेरे साथ अभी भी है, हर कदम पर प्रतिदिन राह दिखाते हुए |

"तुमने मेरी नींद खराब कर दी।

लोग कहते रहे कि तुमने रात की नीरवता को बेचैन कर दिया,
पर एक दिव्य नारी-शक्ति का अस्तित्व कभी मिट जाने या अनदेखा रह जाने के
लिए नहीं बना था।"

लेखिका की बात

मैंने यह पुस्तक इसलिए लिखी ताकि कोई भी वह दर्द न झेले जो मैंने अपनी जिंदगी की जंग में झेला है। यह मेरे लिए सच में एक जंग थी। मैंने बहुत सारी लड़ाइयाँ चुपचाप लड़ीं, लंबा अकेलापन झेला और दिल में अपराध-बोध की भावना हमेशा बनी रही।

सबसे मुश्किल यह था कि मैं अपने ही खून के रिश्तों से लड़ रही थी। जिन लोगों को मैं सबसे अधिक प्यार करती थी, उन्हीं से लड़ रही थी। साथ ही सभी को सँभालने और सबको एक साथ जोड़कर रखने की भी कोशिश कर रही थी। बहुत दिनों तक ऐसा रहा कि जो मैं महसूस कर रही थी, उसे व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं थे। बस इतना पता था कि मैं बहुत थक गई हूँ। ऐसी थकान जो सोने से भी कम नहीं होती थी। और मैं चुप भी इस कदर थी कि उस चुप्पी से शांति नहीं मिलती थी। जैसे सभी का जीवन गुजरता है, मैं भी गुज़ारती रही। चलती रही, जैसे सभी चलते हैं। मैं आती-जाती रही। जो मुझे करना चाहिए था, करती रही। सच यह था कि खुद मुझे भी पूरी स्थिति समझ नहीं आ रही थी। मेरे साथ क्या बीत रहा है, यह बताने से आसान था कि मैं खुद से कहती रही कि मैं ठीक हूँ। लिखना मेरे लिए वह जगह बन गया जहाँ मैं बगैर किसी दिखावे या बिना उपस्थित हुए सच बोल सकती थी। कुछ पन्ने रोते हुए मैंने लिखे, कुछ काँपते हाथों से। कुछ पन्ने... बहुत रुक-रुककर लिखे... बीच-बीच में रुक जाती थी, साँस लेने के लिए। सच सीने पर बोझ था। बोझ हटाते हुए आखिरकार मैं बोलने लगी थी।

इस किताब में कुछ भी जल्दी में नहीं लिखा गया है। मैंने किसी भी मुद्दे पर तभी लिखा, जब सही समय हुआ - ऐसा मैंने नाटकीय प्रभाव पैदा करने के लिए नहीं किया, बल्कि सभी घटनाएँ सत्य हैं और सच को सामने आने के लिए समय चाहिए। अगर पत्रों से गुज़रते हुए, अपने अकेलेपन में, अपने अपराध-बोध के क्षण में, सब संभालते-संभालते खुद को टूटने में, आप अपने आप को पाएँ तो मैं बस इतना चाहती हूँ कि यह किताब आपको याद दिलाए कि आप अकेले नहीं हैं। यह भी याद दिलाएगी कि ठीक न होना भी ठीक है और धीरे-धीरे बोलने का भी असर होता है। यह किताब हर सवाल का जवाब देने के बारे में नहीं है। यह किताब उस सच को बोलने के बारे में है, जब आप अभी अपना रास्ता तलाश रहे हैं।

मेरी कहानी के वे हिस्से भी इस किताब में हैं, जिन्हें सुनाने तक मैं ज़िंदा भी रहूँगी, इसकी उम्मीद कभी नहीं थी।

पाठक के नाम

हम आँखों और ज़ख्मों दोनों से किताबें पढ़ते हैं। अगर आप यहाँ हैं, तो सबसे पहले मैं आपको यह बता दूँ कि आप अकेले नहीं हैं। उन जगहों पर भी नहीं... जहाँ आप चुप रहे। हम में से बहुत-से लोग, खासकर हमारे समाज में, बचपन से सीखते आए हैं -

सब कुछ सँभालो। परिवार, इज़्ज़त, भावनाएँ, तूफ़ान... सब। हमने बहुत जल्दी सीख भी लिया - चुपचाप सहना, हालातों के अनुसार तुरंत ढल जाना, शांति बनाए रखना... चाहे हमारी अपनी ही दुनिया अशांत क्यों न रही हो।

नियम, जिन्हें किसी ने हमसे कहा नहीं, उनका भी हम पालन करने लगे:

परेशान मत करो, सवाल मत पूछो, उधेड़ो मत।

"तूने नींद खराब कर दी" - यह एक वाक्य जो नींद से कम, हमें छोटा करने के बारे में ज़्यादा था। ताकि दूसरे आराम से रह सकें। यह किताब सिर्फ़ मेरी कहानी नहीं है। यह एक दर्पण है। बीत गए समय को याद करने का, गुज़रे हुए लम्हों में वापस लौटने का।

यह एक अपील है खुद को कमतर करना बंद करने का - और किसी से भी बिना माफ़ी माँगे चैन से साँस लेने का।

खामोश औरत के नाम खत

मेरी प्रिय

अपनी आवाज़ को तुमने धीमा करना तब सीख लिया था जब तुम्हें उसकी ताकत का अंदाज़ा भी नहीं था। तुमने खुद को पढ़ने से पहले दूसरों का मन पढ़ना सीख लिया। तुमने दूसरों के हिस्से की शांति अपने कंधों पर ले ली। चुप रहने को तुमने अपने बचाव का साधन बना लिया और सहते जाना अपनी आदत। मजबूत दिखने में तुम माहिर हो गईं।

लेकिन यह साफ़ सुन लो — तुम असफल नहीं हो। तुमने हालात से समझौता किया। अकेले बोझ उठाने के लिए तुम कभी बनी नहीं थीं, अपने सच के लिए माफ़ी माँगने के लिए भी नहीं बनी थीं, न ही दूसरों की उम्मीदों को पूरा करने के लिए खुद को मिटाने के लिए बनी थीं। तुम नर्म रह सकती हो, खुद को मिटाए बिना। तुम प्यार कर सकती हो, खुद को खोए बिना। तुम और चाह सकती हो, बिना "बहुत ज़्यादा" हुए।

तुमने शांति नहीं तोड़ी; तुमने उसे बचाने के लिए खुद को नज़रअंदाज़ करना बंद कर दिया। अगर यह बात तुमसे आज तक किसी ने नहीं कही, तो मैं पहली बार कह रही हूँ: तुम्हें अधिकार है कि अपना स्थान बनाओ और तुम्हें यह भी हक है कि और अधिक माँगो।

तुम बचने के लिए चुप थीं, अब जीने का वक्त है — और उठने का।

प्रस्तावना — पहली दरकन

मेरा शरीर सालों से उस सच को ढो रहा था। एक दिन उस सच के लिए मैंने माफ़ी माँगना बंद कर दिया। मेरी जिंदगी की शुरुआत उसी दिन से हुई।

जब मैं लिखने बैठती हूँ, तो कागज़ पर वाक्य उतरने से पहले आँसू आ जाते हैं। धीरे से नहीं, सलीके से नहीं — बल्कि अचानक, जैसे मेरे शरीर को कुछ याद आ गया हो, जिसे मेरा दिमाग सालों से दूर रखे हुए था।

मैं आँसू पोंछ लेती हूँ। बारह लंबे सालों तक पोंछती आई हूँ। अब तो आदत-सी हो गई है। हाथ नीचे जाता है, उँगलियाँ ठोड़ी पर पड़े निशान को छू लेती हैं। यह एक छोटा और ज़िद्दी निशान है। इसे अब नहीं होना चाहिए था। निशान से मेरी यादें जुड़ी हैं, जहाँ लौटने से मेरा मन अब भी इनकार करता है।

मैंने खुद को उसे याद करने के लिए मजबूर करना छोड़ दिया है। कुछ पल बंद ही रहते हैं, क्योंकि शरीर खुद को ऐसे ही बचाता है। जब दर्द इतना बढ़ जाए कि शरीर के ज़ख्मों से होता हुआ मन तक पहुँच जाए और मन को सुन्न कर दे, तभी कुछ सच बोल पाते हैं।

पर इतना मैं जानती हूँ: जब भी मैं लिखने बैठती हूँ, मेरे अंदर कुछ खुल जाता है — दर्द से नहीं, बल्कि ईमानदारी से। जैसे शब्द मेरे दिल की गहराई से बाहर आने का इंतज़ार कर रहे हों।

क्योंकि यह कहानी किसी पार्टी से, या किसी हेडलाइन से, या उस पल से शुरू नहीं हुई जिसे दुनिया ने शुरुआत समझा।

यह उन सालों में शुरू हुई जिन्होंने मुझे अंदर से खाली कर दिया — उन सालों ने मेरी नींद, मेरा चैन, मेरा विश्वास छीन लिया।

मैंने सालों तक बातों को अपने अंदर इतनी कसकर जोड़े रखा कि समझ ही नहीं आया कि मैं चुपचाप बिखर रही थी।

कागज़ वह जगह होती है जिस पर मैं खुद को संभालती हूँ। बिना टूटे लिखने की कोशिश करती हूँ और फिर भी टूट जाती हूँ। इस जटिलजहद में एक वाक्य उभरता है। वह वाक्य जो बचपन, शादी, जिंदा रहने और खुद को लगभग खो देने तक मेरा पीछा करता रहा:

तूने नींद खराब कर दी।

यह आरोप की तरह नहीं था।

बल्कि एक ऐसी जिंदगी की गूँज की तरह जो हमेशा चौकन्ना होकर जी गई। अब ये शब्द आखिरकार आज़ाद होकर लिखे, कहे जा रहे हैं। मैं समझ गई हूँ जो मैंने पहले कभी नहीं माना: मैं किसी की शांति भंग करने वाली नहीं थी।

मैं हर तूफ़ान में जागती रही। उन बारह सालों में भी जागी रही, जिन सालों ने मुझे तोड़ा, मुझे नए रूप में ढाला और मैं निखरती भी रही, बिखरती भी रही। और उन सालों ने अंत में यह भी कहा कि मैं अपनी कहानी वैसे ही सुनाऊँ जैसे मैंने उसे जिया था।

मुझे इस बात का अंदेशा नहीं था कि जिन सालों ने मेरी नींद मुझसे छीन ली थी, वे और भी घने अँधेरे की ओर बढ़ रहे थे — ऐसे पल की तरफ बढ़ रहे थे जब मेरे बेटे मुझे मौत के दरवाजे पर दस्तक देते देखते रहेंगे।

अनुक्रमणिका

अध्याय 1 बेटी की धरोहर.....	1
अध्याय 2 भारत की पुकार — जिंदगी का नया मोड़	17
अध्याय 3 एक वाक्य जिसने सब बदल दिया	30
अध्याय 4 लंबा बीच का वक्त.....	44
अध्याय 5 सर्दियों का सफर: उम्मीद की आदत	58
अध्याय 6 वे साल जब हम साथ होकर भी अलग थे	79
अध्याय 7 एक जंग परिवार और कानून दोनों से.....	100
अध्याय 8 वह रात जब जंग खत्म हुई	111
अध्याय 9 शरीर जिसने रखा लेखा-जोखा	117
अध्याय 10 परिणाम.....	133
अध्याय 11 वे देख नहीं पाए.....	141
अंतिम अध्याय जो औरत मैं बन गई	148
बेटों के नाम खत.....	153
जागती हुई औरत के नाम	157
लेखिका के बारे में_	167

अध्याय 1

बेटी की धरोहर

जब सभी नींद की आगोश में चले जाते हैं, एक सवाल जगा रहता है — वह सवाल मेरी यादों से कभी अलग नहीं होता है।

वह कौन-सा बिंदु है, जहाँ से मेरी कहानी शुरू होती है?

अधिकतर लोग यह सोचते हैं कि मेरी कथा का आरंभ मेरे तलाक के दिन से, या सुर्खियों में आने से, या उस रात से जब रीति-रिवाजों में पत्नी एक आम औरत ने, उस घटना की प्रतिक्रिया में, जश्न मनाने का साहस दिखाया, जिसकी पीड़ा को चुपचाप सहने की बात हमारी संस्कृति सिखाती है। यहाँ तक कि चुपचाप सहने को प्रशंसनीय और आदर्श बताया गया है। लेकिन, घटना की यह शुरुआत नहीं थी। यह ज्वालामुखी थी। जमीन में वर्षों तक आग धधकती है, तभी ज्वालामुखी फूटता है।

इंटरनेट पर मेरा नाम दुनिया के सामने आने से बहुत पहले ही एक वाक्य मेरी ज़िंदगी के हर कोने में गूँज रहा था और इसी वाक्य से मेरी कहानी शुरू होती है:

"तूने नींद खराब कर दी"

तूने मेरी नींद उड़ा दी।

तूने मेरा चैन छीन लिया।

तूने मेरी रातें बेचैन कर दीं, दिल को बेताब कर दिया, मन को बेकरार कर दिया।

बचपन में पहली बार इस वाक्य को मैंने सुना तो, इसे मज़ाक में लिया। जैसे देसी माता-पिता अपनी बेटी के प्रति बनावटी नाराज़गी दिखाते हैं। उनकी बेटी जब अपने छोटे-से जिस्म में बहुत ज़्यादा ज़िंदगी जीने लगती है, तो वे नाटकीय शिकायत, उलाहना करने लगते हैं। चुभता हुआ गंभीर मसला नहीं होता।

लेकिन जैसे-जैसे मेरी उम्र बढ़ती गई यह वाक्य मुझे विचलित करने लगा — हालाँकि किसी ने आरोप के तौर पर मुझे नहीं कहा, लेकिन उनके हाव-भाव में, उनकी नज़रों में, मुझसे बात करने की हिचकिचाहट में — यह वाक्य हमेशा मुझसे चिपका रहा।

मैं चुपचाप इस उम्मीद में जीती रही कि मेरे फ़ैसले हमेशा दूसरों को आराम दें।

जिस दिन यह बात, जिसे मैं हल्के से ले रही थी, दिल पर बोझ-सी लगने लगी, मेरे अंदर कुछ टूट गया था।

क्योंकि माता-पिता ने मुझसे न तो कभी साफ़-साफ़ कहा, न ही इशारों में कहा, परंतु उनकी हर बात के मूल में यह संदेश छिपा था:

हमें परेशान मत करो

पारिवारिक ढाँचे को अस्थिर मत करो।

मौन रहो। तुम्हारे मौन के खंभों पर ही परिवार की छत टिकी है।

किसी की नींद में खलल डालने का कारण मत बनो।

मुझे शब्दों ने नहीं तोड़ा था। उन शब्दों के नीचे दबे भय ने तोड़ा था।

एक डर जो पीढ़ियों से चला आ रहा है कि पुत्री को दूसरों की भावनात्मक शांति के लिए सब कुछ करना चाहिए, चाहे उसकी अपनी भावनात्मक शांति तार-तार ही क्यों न हो जाए।

चुपचाप बिना बोले हुए, तूने नौंद खराब कर दी का लहजा मेरे साथ चिपका रहा। इस लहजे ने मुझे सिखाया — अपना महत्व कम करो, सब सह लो, और जो सच है उसे भी मत बोलो।

कभी नहीं बोले गए एक वाक्य की गूँज इतनी तेज़ थी कि मेरे जीवन की दिशा ही बदल दी।

कार में छुपकर, तौलिए में मुँह छुपाकर तथा हथेलियों से चेहरा ढाँपे मैं पूरे बारह वर्ष तक रोती रही, क्योंकि मैं नहीं चाहती थी कि मेरे बच्चे मेरा रोना ना सुनें।

बारह वर्ष तक खुद को यह समझाती रही कि यदि मैं अपने आप को और संयम से रखूँ तो सबको आखिरकार चैन मिल जाएगा।

क्योंकि "तूने नौंद खराब कर दी" वाक्य महज़ एक टिप्पणी नहीं रहा। यह एक निर्णय बन गया। बिना शोर किए फैसला। संस्कार से जुड़ा हर घर का फैसला।

कभी बोलकर कहा जाता है। कभी इशारों से समझाया जाता है। कभी उन मान्यताओं एवं अपेक्षाओं को, जो देसी महिलाओं के जीवन में प्राण-वायु की तरह घुल चुकी हैं, बार-बार दोहराया जाता है — धैर्य रखो। कुल की लाज की रक्षा करो। घर-परिवार में शांति बनाए रखो, चाहे अपनी इच्छा और उम्मीदों का त्याग करना पड़े।

मेरे बच्चों ने मेरी हालत समझी। मुझ पर लगाए जा रहे आरोपों के माध्यम से नहीं। बल्कि बच्चे उस बोझ को समझ जाते हैं कि उन्हें जन्म देने वाली स्त्री धीरे-धीरे अपनी ही चुप्पी में खोती जा रही है।

मेरी कहानी कहाँ से शुरू होती है? मेरा जन्म 1976 में उमस-भरे अस्पताल के एक कमरे में हुआ। मेरी कहानी शायद वहीं से शुरू नहीं होती। मैंने एक ऐसी दुनिया में कदम रखा जो कर्तव्य, संस्कार और अनकहे नियमों से पहले से ही गढ़ी हुई थी।

शायद मेरी कहानी बचपन से भी शुरू नहीं होती। बचपन में मासूमियत घिस जाती है और उम्मीदों पर पहरा लगा रहता है। संभव है कि मेरी कहानी उस पल से शुरू

होती है जब मैं अपने अंदर घुमड़ते दर्द और तकलीफों को दबाना सीखी। मुझसे यही उम्मीद भी की जाती थी कि मैं अपनी शांति की कीमत पर दूसरों को सुकून दिलवाऊँ।

क्योंकि शुरुआतें साफ नहीं होती हैं। वे घाव देती हैं। फिर मरहम लगाती हैं, और ज़िंदगी के हर कोने में भर जाती हैं कि उनसे भागने की जगह नहीं बचती।

वर्षों तक मैं गहरी नींद में सो नहीं पाई थी। वर्षों तक बाहर से शांत दिखती, मगर अंदर में भावनाओं के तूफ़ान को दबाती रही। वर्षों तक रीति-रिवाजों का बोझ पीठ पर ढोती रही। और फिर, एक दिन, मैंने वह किया जो एक देसी औरत से कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

मैंने बंदिशों से मुक्त होने का जश्न मनाया न कि उसे छिपाया।

मेरे इस कदम को दुनिया ने बगावत कहा। कुछ की नज़र में यह बेअदबी थी, तो कई ने इसे शर्मनाक कहा।

मगर सत्य यह था कि अपने 'मैं' को बचाने के लिए मेरा यह कदम था।

तो मेरी कथा कहाँ से शुरू होती है? माता-पिता के स्नेह और उनकी कमियों से मैंने जो सीखा, वही जीवन का प्रथम सत्य था। और मेरी दूसरी शुरुआत मेरे बच्चों की आँखों में दिखी। उन्होंने मुझे बिखरते, सँभलते तथा मजबूत होते देखा, और मीन, मगर पूरी शिद्दत से प्रार्थना की ताकि उनकी माँ खुद के पास वापस आकर फिर से ताकतवर हो जाएगी।

क्योंकि सच यह है:

"तूने नींद खराब कर दी" केवल एक मुहावरा नहीं रह गया है।

यह वह घाव है जो विरासत में मिला है, यह वह दबाव है जिसे झेलते हुए मैं जीती रही, यह लोगों की वह अपेक्षा है जिसे तोड़ना पड़ा ताकि खुली हवा में फिर से साँस ले सकूँ।

वर्षों तक, वे कहते रहे कि मैंने उनकी नींद उड़ा दी। उनका चैन छीन लिया। उनकी शांति भंग कर दी। मगर मैं उस जीवन को बचाने के लिए रात-रात भर जागती रही जो मुझे ही मार रहा था। और आपने अस्तित्व को कायम रखते हुए मैंने इसी मोड़ पर मौत को भी मात दे दी।

साउथ लंदन

तूफान से पहले, नींद चुराने वाले वर्षों से पहले साउथ लंदन मेरी ज़िंदगी का हिस्सा रहा।

मैं केवल दस वर्ष की उम्र तक वहाँ रही, लेकिन उन्हीं प्रारंभिक वर्षों ने मेरी ज़िंदगी को चुपचाप गढ़ा, जिसे मैं उस समय समझ नहीं पाई थी। हम जिस गली में रहते थे वहाँ सब कुछ व्यवस्थित और भरोसेमंद था। माता-पिता इस बात से निश्चित थे कि उन्होंने बच्चों के लिए सही कदम उठाया है। घरेलू जीवन में अपनापन और जाना-पहचाना माहौल था। पिता की उपस्थिति शांति देती थी। माँ की एक निश्चित दिनचर्या थी। कोमल भावनाओं से भरा देसी संस्कृति वाला घर जहाँ आपसी प्रेम घोषणाओं में नहीं हर सदस्य के व्यवहार में नज़र आता था।

मेरा स्कूल अन्य स्कूलों से अलग था।

न शोर, न दिखावा — एक कठोरपन का अहसास। मैं स्कूल के वातावरण में ढल नहीं पा रही थी। इसका कारण मुझे नहीं मालूम था। मैंने जानबूझकर कुछ नहीं किया। मैं ऐसी ही थी। मैं बहुत जल्दी यह सीख गई थी कि घर पहुँचने से पहले आँसुओं को कैसे रोक लूँ, यह दिखाऊँ कि मुझे कोई बात नहीं चुभती और कैसे खुद को इतना छोटा कर लूँ कि लोगों का ध्यान मेरी ओर नहीं जाए।

सभी परेशानियों से बचने के लिए मेरा घर एक सुरक्षित स्थल था। यह समझने में मुझे वर्षों लगे कि मेरा यह विचार कमज़ोर था।

स्कूल में ही सबसे पहले मेरे अंदर दरारें उभरीं।

दबाव बनाने तथा मुझमें अपराध-बोध पैदा करने के लिए युवावस्था में मुझसे कहा जाता था, तूने नींद खराब कर दी। इस वाक्य को कहे जाने के बहुत पहले से ही दर्द को चुपचाप सहने तथा कुछ भी नहीं हुआ है का भाव पैदा करने में मैं अभ्यस्त हो चुकी थी।

साउथ लंदन में मैंने कुछ ही वर्ष बिताए। परंतु उन्हीं कुछ वर्षों ने ही मौन रहने तथा खुद पर विश्वास करने का बीज मेरे अंदर बो दिया था, जो हमेशा मेरे साथ बना रहा।

ईस्ट लंदन

मैं दस वर्ष की हो चुकी थी। हमने अपना आवास साउथ लंदन से ईस्ट लंदन स्थानांतरित कर लिया था। हालाँकि, भौगोलिक दृष्टि से यह एक सामान्य घटना थी, मगर मेरे अंदर इसका व्यापक असर पड़ा था।

ईस्ट लंदन में शोर, हलचल और जीवंतता अधिक थी।

वहाँ देखने-सुनने और रहन-सहन में हमारे जैसे ही लोग थे। बिना बोले हुए चले आ रहे घर के नियम-कायदे की जानकारी सभी को थी। इसे बताने-समझाने की जरूरत नहीं थी। मुझे पहली बार महसूस हुआ कि मैं औरों से अलग एक लड़की नहीं हूँ। मैं भी उन्हीं में से एक हूँ। यह समझ सुकून देती है। एक बात और भी थी कि मुझे पहले ही इसका अहसास भी था कि मैं भविष्य में क्या बन रही हूँ। मेरे लिए यह नया संसार था जिसमें तीन शख्सियतों ने मुझमें प्रेम, कर्तव्य और अपनापन की समझ बनाई।

पिता की छाँव: प्रथम सुरक्षित स्थल

पिता से जुड़ी मेरी शुरुआती यादें जाड़े की धूप-सी गर्म थीं। ज़िन्दगी में कष्ट नहीं था। स्थायित्व था। सुविधाएँ थीं। हमारी सभी आवश्यकताओं को पूरा करने वाले घर में एक दिनचर्या थी। यह सब पिता की अनुशासित जीवनशैली के कारण संभव था। वे भीर में जाग जाते थे। परिवार के अन्य सदस्यों के जागने से पहले स्नान-ध्यान कर सलीके से वस्त्र धारण करते, केश सँवारते और यहाँ तक कि प्रतिदिन

जूते भी पॉलिश करते। यह सब दिखावे के लिए नहीं, आत्मसम्मान के साथ जीने का तरीका था। वे जीवन को पूरे मन से जीने में विश्वास करते थे। अवकाश के दिनों में भी वे वैसे ही सजग, तत्पर और व्यावहारिक थे।

वे चुप रहने वालों में से नहीं थे। वे खुलकर बोलते, समाज से जुड़े रहते तथा उपस्थिति दर्ज कराते थे। उनकी आवाज़ में असर था। उनके कहकहों से घर गूँज जाता था। उनकी बात लोग ध्यान से सुनते थे। स्थितियों को ठीक करने का उनका तरीका अलग ही था। वे मनमानी नहीं करते, बल्कि सँभालते थे। उनके उपस्थित रहने से कमरे में एक सक्षम व्यक्ति की मौजूदगी का विश्वास होता था।

उनके विचार से मैं ऐसी नहीं थी कि मुझे सुधारना या राह दिखाना पड़े। उनकी पुत्री होना ही मुझे निश्चित रखता था कि मैं सकुशल हूँ। अपनी पहचान बनाने के लिए मुझे कोशिश नहीं करनी पड़ी थी।

वे शब्दों के माध्यम से स्नेह नहीं दिखाते थे। उनका अपना तरीका था — हर दिन मेरे लिए समय निकालना, बिन बोले हँसला देना तथा यह भरोसा दिलाना कि मेरी पीठ पर कोई है। अक्सर चुपचाप, बगैर वजह बताए वे स्नेह जताते थे। उनकी भावनाएँ मैं हमेशा महसूस करती थीं। उनके साथ, बिना सफ़ाई दिए हुए भी, मैं हमेशा खुद को सुरक्षित महसूस करती थी।

उनका मुझ पर भरोसा था। मेरी सोच पर वे विश्वास करते थे। बावजूद कि वे पूरी तरह समझ नहीं पाते थे कि मैं खुद को किस साँचे में ढाल रही हूँ, मैंने कभी भी उनके निश्छल स्नेह पर अविश्वास नहीं किया।

दुनिया में अपनी जगह पाने के लिए सवाल उठाने की मुझमें समझ आने से भी बहुत पहले, वे वहाँ पहले से मौजूद रहते थे, जहाँ मैं थककर लौट आती थी — सुरक्षित होने का यह मेरा पहला अनुभव था।

मेरी माँ — चौकस, धारदार स्नेह

मेरे पिता सहज थे, माँ दृढ़ इरादों वाली थी। उनके सभी कार्य सही तरीके से होते थे — सोचे-समझे, सालों तक असर डालने वाले, और योजना के हिसाब से। वे उन्हीं राहों पर चलती थीं जिनसे जीवन में स्थायित्व की संभावना हो। हमारा बचपन हमेशा सुरक्षित था, लोगों को हमारी परवाह थी, साथ कभी टूटा नहीं। माँ को इस पर गर्व था। वे भाग्य भरोसे कुछ नहीं छोड़ती थीं। उनके लिए स्नेह का अर्थ था मर्यादा की लकीर पर चलाने के लिए रास्ता दिखाना।

वे परिणाम की अधिक चिंता करती थीं। वे सदैव सजग रहती थीं। उनका मानना था कि थोड़ी भी असावधानी से महत्वपूर्ण मौके हाथ से फिसल सकते हैं। यह सजगता उनके स्नेह का आधार था। उनका स्नेह सुव्यवस्थित था। आने वाली परेशानियों के प्रति सचेत करता था। साथ ही एक सही मार्ग पर चलने का आदेश भी देता था।

और मैं एक ऐसी बालिका थी जो उनके हर सुझाव और निर्देश पर प्रश्न किया करती थी।

उनकी बात नहीं मानने की भावना नहीं थी, मगर किसी भी विचार को ग्रहण करने से पूर्व मैं उसे समझना चाहती थी। वे चली आ रही व्यवस्था पर विश्वास करती थीं और मैं अपने विवेक पर। वे पुराने रीति-रिवाजों को मानती थीं और मैं नई बातें समझना चाहती थी। मेरे और उनके बीच एक दूरी बहुत पहले ही बन चुकी थी। हम उसे आपस की बातचीत में इस मुद्दे पर कभी चर्चा नहीं करते थे।

वे मुझे हृदय की गहराइयों से स्नेह करती थीं, मगर सतर्कता की भी भावना थी। वे मुझे सुरक्षित रखना चाहती थीं। आने वाली परेशानियों से, जिनसे वे भी डरती थीं, मुझे बचाना चाहती थीं। वे गुर्रसा करती थीं, दरअसल उन्हें मेरी फ़िक्र थी। वे अपने अनुसार चलने की उम्मीद मुझसे करती थीं। मैं बड़ी होती गई, उनका ऐसा स्नेह मुझे दबाव लगने लगा था।

वे चाहती थीं कि मैं खुद के मामले में सँभलकर रहूँ। उनकी चिंता उस समय मैं समझ नहीं पाती थी। क्योंकि, उनके बताए रास्ते एक ज़िम्मेदारी देते थे। हर चीज़

को कायदे से करने, किसी को भी आहत न करने और एक निर्धारित सीमा को पार नहीं करने की हिदायत मुझे देती थीं। उनका मानना था कि इस सीमा के अंदर ही जीवन का सम्मान सुरक्षित है।

मैं लम्बे समय तक यह समझती रही कि वे मुझ पर ध्यान नहीं देती थीं। अब मेरी समझ बदल गई है।

मेरी सोच को देखते हुए वे इस बात से चिंतित थीं कि मेरे जैसे ख्यालों वाली लड़की से समाज न जाने क्या माँग ले। मेरे अंदर घुमड़ते विचार उस सीमा को तोड़ना चाहते थे, जिसके अंदर वे रहती आई थीं।

वे मेरा कद कम करना नहीं चाहती थीं। अपने अनुभवों से सीखी जानकारी के माध्यम से वे मुझे परेशानियों से बचाना चाहती थीं।

किंतु युवावस्था में, भय से लिपटे प्रेम में अपनापन नहीं झलकता है।

लोगों की उम्मीदें जुड़ी हुई लगती हैं।

यह एक ज़िम्मेदारी लगता है।

हर पल कुछ गलत होने की आशंका लगती है।

मेरी माँ मुझसे प्रगाढ़ प्रेम करती थीं, जबकि वह बोझ लगता था।

उनके भय और उनकी मंशा के अंतर को पहचानना, खुद को समझने की दिशा में पहला कदम था।

मेरी बहन, उन्मुक्त सोच की उड़ान

मेरी और छोटी बहन की भूमिका समान संरक्षण या मार्गदर्शन से निर्धारित नहीं हुई थी। किंतु वह मेरी ज़रूरत थी, क्योंकि उसके साथ सोच की कोई सीमा नहीं थी।

वह अलग तरीकों से उम्मीदों के साथ चलती थी। मैं प्रश्न करती थी, वह स्थितियों को समझती थी। मैं प्रतिरोध करती थी, वह सही समय की प्रतीक्षा करती थी। वह

नियमों को समझकर बाधाओं को आसानी से पार कर लेती थी। मैं नियमों से जूझती रहती थी।

एक लम्बे समय तक हमारे विचारों के अलग-अलग होने से हमें कष्ट हुआ, लेकिन बहन से रिश्तों में छोटे और बड़े की भावना नहीं होती, सिर्फ ईमानदारी होती है। बढ़ती उम्र के साथ वह मेरी हमराज बन गई। वह एक ऐसी शख्सियत थी जिससे मैं बिना संकोच के सब कुछ कह सकती थी।

उसने मुझे ऊँचे स्वर में बोलने दिया और तत्काल सुधारने, सीमित करने या परिस्थितियों को सहज बनाने का प्रयास नहीं किया।

वह अपनी ज़िम्मेदारी निभाती रही। मेरी नहीं। किंतु उसने मेरी बातों को गंभीरता से सुना। उस पर चिंतन किया। और मेरे चाहने पर ही अपना विचार दिया, अन्यथा चुप रही। उसने मेरे विचारों को न तो संशोधित किया और न ही ऐसा रूप दिया कि अधिक लोग स्वीकार करें। मेरे किसी कथन को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत नहीं किया। उसने ऐसा माहौल बनाया कि मैं खुद से बातें कर विचारों को व्यवस्थित कर सकूँ।

और ऐसी ज़िंदगी, जहाँ अक्सर मैं लोगों की उम्मीदें और अपनी इच्छाओं के बीच झूलती रहती हूँ, वहाँ परिणाम की परवाह किए बगैर बहन द्वारा विचार रखने की अनुमति देना किसी भी उपदेश से अधिक महत्वपूर्ण था।

गूँजता, जीवंत घर

हमारा घर शांत नहीं था। आवाज़ से नहीं — भावनाओं से भरा था। भरा-पूरा था। जीवंत था। ढंग से निर्मित था। घर में हमारी ज़रूरतें और इच्छाओं का हर सामान था। आपस में भरोसा था — यह हमें जोड़े रखता था, ज़मीन पर टिकाए रखता था, जीवन को लय और अर्थ देता था।

घर में स्थिरता के बीच भी टकराहट थी। मैं भावनाओं से नहीं खेलती थी — मैं सीधी प्रतिक्रिया व्यक्त कर देती थी। घर में झगड़ों को सुलझाया नहीं जाता था... बस पी लिया जाता था और आगे बढ़ जाते थे।

आरंभ से ही मैं सवाल पूछने वाली थी। पीछे से भी टोक देती थी। दिल को सही नहीं लगने वाले नियमों को मानने में मुझे परेशानी होती थी। मेरी और माँ के बीच तकरार होती थी — ऐसा इसलिए नहीं था कि हमारे बीच प्यार की कमी थी, बस हम अलग-अलग सोच के थे। मैं घर का माहौल वैसे ही पढ़ लेती थी जैसे दूसरे बच्चे पुस्तक पढ़ते हैं। किसी के बोलने से पहले उसके मिजाज को मैं समझ जाती थी। घर असुरक्षित नहीं था, मैं ही संवेदनशील थी, ज्यादा ध्यान देने वाली थी। मैं प्रतिक्रिया पहले ही सोच लेती थी। खुद को ढाल लेती थी। समय के साथ यह आदत मेरा चरित्र बन गया।

तकरार कभी बड़ी बातों पर नहीं होते थे। प्रायः तकरार मुझसे शुरू होते थे —

एक प्रश्न से, इनकार करने से तथा टोकने से — और तकरार इस हद तक हो जाता कि बात जितनी छोटी थी, उससे कहीं बड़ी बन जाती थी। यह नफ़रत के कारण नहीं था। बस उम्मीदों और संस्कारों के कारण था और 'सही तरीके' से करने के दबाव से था।

शांत और गंभीर रहने वाले पिता अक्सर बीच-बचाव करते थे। वे हमारे बीच के तीखेपन को कम करने का प्रयत्न करते थे। वे चिल्लाते नहीं थे। विवाद को शांत करने की कोशिश करते थे, ताकि बात आगे न बढ़े। यँ तो हमारे घर की नींव मजबूत थी यानी परिवार में आपसी प्रेम था, पिता उस घर में फिर से संतुलन लाने का प्रयास करते।

और यहीं पर पहली बार "तूने नींद खराब कर दी" मेरे जीवन में आया। यह न आरोप था, न सज़ा जैसी बात थी। यह एक सीधी-सी बात की तौर पर कही गई थी : मैं वो बच्ची थी जो घर का सुर-ताल-लय बिगाड़ देती थी, सवाल पूछती थी तथा परंपरागत ढाँचे में आसानी से ढल नहीं जाती थी।

मेरी नीयत शांति भंग करने की नहीं थी।

घर के बड़े शांति और सुकून का माहौल बनाए रखना चाहते थे, वहीं मैं उस सुकून में खलल डाल देती थी।

बच्चों की बगावत अराजकता के लिए नहीं होती।

बच्चे खुद को खोजने के लिए बगावत करते हैं। और मैं एक ऐसी यात्रा पर निकल रही थी, जिसका गवाह बनने के लिए मेरा घर भी तैयार नहीं था।

दोहरा जीवन — प्रथम पलायन

जब घर में बेचैनी लगे, और स्कूल सख्त लगे, तो एक लड़की आखिर में उस एक जगह में पनाह ढूँढ़ लेती है, जहाँ वह खुद की पहचान बना सके: तीसरी जगह। मैंने दो स्तरों पर ज़िंदगी जीने की योजना नहीं बनाई थी। यह बस अपने आप हो गया। मुझसे जैसा बनने की उम्मीद की जा रही थी और मैं जैसा बन रही थी — दोनों के बीच में मैं दोहरी ज़िंदगी जी रही थी।

घर पर, भावनाओं का दबाव था। स्कूल में चुप रहना ही बचाव था। और उसी तनाव में मैंने खुद का पहला रूप जीना शुरू कर दिया।

"तूने नींद खराब कर दी"

इसलिए नहीं कि मैं किसी का कुछ नुकसान करना चाहती थी — बल्कि इसलिए कि मैं वह बच्ची थी जिसकी भावनाएँ ध्यान खींच लेती थीं, चिंता पैदा कर देती थीं। पहले से नाज़ुक घर का संतुलन हिला देती थीं। मेरे दिन हर रोज़ एक ही जैसे थे:

स्कूल जाना, घर का काम करना, उम्मीदों पर खरा उतरना, और यह सीखना कि शांत रहने के लिए कैसे व्यवहार किया जाता है।

इसलिए, जहाँ भी अवसर मिलता मैं पलायन कर जाती। कभी-कभी इसका मतलब स्कूल से अनुपस्थित होकर उन घंटों में बंदिशों से मुक्त हँसी का आनंद लेना। संगीत के माध्यम से दिमागी बोझ से मुक्ति पाना। कभी-कभी इसका मतलब था कि मैं ऐसी जगह चली जाऊँ जहाँ कोई मुझसे 'अच्छी बेटा', विवेकशील लड़की बनने की

उम्मीद न करे। एक ऐसी समझदार बेटी जो बवाल न मचाए। ये वे लम्हें होते थे जब मैं बस 'मैं' होकर जी सकती थी। उन्हीं दिनों में वह मेरी ज़िंदगी में आया।

यह न तो कोई परिकथा थी। न इश्क की नाटकीय दास्तान। बस एक लड़का, जिसने मुझे तब देखा जब हर कोई मुझे नज़रअंदाज़ कर रहा था। उसके साथ मैं वह 'बागी बेटी' या वह लड़की नहीं थी जो बिना कारण घर में तनाव लाती थी। स्थितियों को और पेचीदा करती थी।

मैं जैसी थी.. पर्याप्त थी। पर दोहरी ज़िंदगी की एक सीमा होती है। और मेरी ज़िंदगी भी धीरे-धीरे टूटने लगी, जैसे सारे राज़ टूटते हैं — पहले धीरे-धीरे, फिर एकदम से।

दरारें स्पष्ट होने लगीं

प्रारंभ छोटी-छोटी झूठों से हुआ। बार-बार पोशाक बदलना, गोलमोल अंदाज़ में सफाई देना, देर से घर लौटना। पर सामान्य दिखने वाली झूठें जल्दी बड़े हो जाते हैं। जल्द ही मैं सच को छुपाने लगी और यह भी दिखाने लगी कि टुकड़ों-टुकड़ों में बँटी ज़िंदगी की भावनात्मक बोझ से मैं थक नहीं रही हूँ। और इस जद्दोजहद के कारण मेरी आँखों से नींद दूर जा चुकी थी। किसी अपराध-बोध से नहीं, बल्कि अपनी दो अलग-अलग ज़िंदगियों को जीने का बोझ था — जो कभी भी साथ नहीं हो सकती थीं। हर बार जब पिता मुझ पर भरोसा करते, मेरा दिल जोर से धड़कता, एक भारीपन महसूस होता। हर बार जब माँ सवाल करती, मैं खुद को बचाने लगती। हर बार जब बहन चुपचाप मुझे बचा लेती, मैं सोचती — वह कब तक मुझे बचाएगी। मैं जानबूझकर किसी को अशांत नहीं कर रही थी, मगर सत्य यही था कि पहले से ही तनाव झेलते परिवार में मैं और भी तनाव बढ़ा रही थी।

"तूने नींद खराब कर दी"

सिर्फ इस बार मैं खुद भी इसके बोझ का अनुभव करने लगी थी।

चौबीस की उम्र में बदलाव

उम्र के बीसवें पड़ाव के आसपास भावनात्मक रूप से मेरा दिल नहीं टूटा था। मैं मानसिक स्तर पर थक चुकी थी। वह रिश्ता जो पलायन के दौर में एक सहारा लगता था, धीरे-धीरे मैं जो बनना चाह रही थी उसमें बाधक बनने लगा।

यह कोई हादसा नहीं था।

यह सिनेमा का कोई दृश्य नहीं था।

भावनाओं का टूटते जाना

उसके साथ संबंध टूटने के बाद ज़िंदगी की गति धीमी हो गई। इतनी धीमी कि वह सब कुछ दिखने लगा, जिसे मैं दबा रही थी।

नींद बेचैन हो गई।

दिन लंबे लगने लगे।

लोगों से बातचीत थकाने लगी।

मैं उस लड़के के साथ नहीं होने का ग़म नहीं मना रही थी। मैं अपने 'खुद' के लिए दुखित थी जो ग़लत कारण से उसके साथ जुड़ी रही। हमारे संबंधों के टूटने से कोई हंगामा नहीं हुआ था। दर्द धीरे-धीरे खुल रहा था। बाहर से सब सामान्य लग रहा था, पर अंदर में कुछ भी सही नहीं था।

घर में मैं यह बोझ चुपचाप उठाती रही। जितना छुपाने की कोशिश की घर का माहौल और बदलता गया। और वही पुरानी बात फिर गूँजने लगी:

तूने नींद खराब कर दी

इस बार यह बात मेरे अंदर घर कर गई, क्योंकि नींद सच में मैं ही खो रही थी।

पहली बार समझ में आया

उन उलझनों के बीच, एक सच उभरकर सामने आया — मुझे खुद ही नहीं पता था कि मैं कौन हूँ।

विद्रोही

सत्य छुपाने वाली

अपनेपन की भूखी

ये सब एक ही जगह से निकला था, लायक साबित होने की आकांक्षा। दूसरों की नज़र में लायक। खुद की नज़र में लायक। और मैं लायक नहीं बन पा रही थी, क्योंकि मैं खुद से मिली ही नहीं थी।

यह समझ एकाएक तेज़ी से नहीं आई। यह कोई सशक्तीकरण या बदलाव नहीं था। यह चुपचाप बेचैन करने वाली जागरूकता थी। एक फुसफुसाहट जो कह रही थी:

तू ऐसे नहीं जी सकती

ठहरा हुआ दर्द

दिल सही मायने में जब टूटता है, तो चीखता नहीं है। एक दर्द बन ठहर जाता है। सबेरे नींद खुलने के साथ तुम्हारी पलकों के पीछे बैठ जाता है। उन खाली जगहों में गूँजता है जिन्हें तूने कभी भरोसे से भरा था।

मैं एकदम से उठ नहीं पाई।

रातोंरात मुझमें समझ नहीं आई।

मैं धीरे-धीरे बड़ी हुई। इंच-दर-इंच, पल-दर-पल।

और उसी नाजुक बदलाव के बीच, ज़िंदगी मुझे आगे आने वाले पड़ावों के लिए तैयार कर रही थी: एक विवाह, एक यात्रा, एक ज़िंदगी। मैंने सोचा था ये तीनों मुझे संभाल लेंगे, पर असल में वे मुझे उन तरीकों से परखने वाले थे, जिसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकती थी।

पर यह बात पुस्तक के प्रथम अध्याय की नहीं है।

प्रथम अध्याय यहीं इस बात पर शेष होता है कि एक युवती अपने फ्रैसलों के असर के बाद चुपचाप खड़ी है।

अब भी अपनी नींद गँवा रही है, अब भी खुद की तलाश में है, और अब भी "तूने नींद खराब कर दी" की सबसे पहली परतें ढो रही है, बिना जाने कि आने वाले वर्षों में यह कितने अंदर तक गूँजेगी।

"पहली बार, एक सवाल मेरे अंदर आकार ले रहा था, जिसे मैंने कभी ज़ोर से बोलने का साहस नहीं किया:

अगर मैं उनकी नींद खराब कर दूँ, तो क्या मुझे अपनी ज़िंदगी जीने देंगे?"

अध्याय 2

भारत की पुकार — ज़िंदगी का नया मोड़

भारत ने मुझे कभी किसी सपने के देश की तरह नहीं बुलाया। यह भावुकता भरा प्यार या परंपरा या जड़ों की चाहत की बात नहीं थी।

यह कुछ ज़्यादा शांत, ज़्यादा गहरा था। सीने में भारत के लिए एक खिंचाव था। अपना भी लगता था और जाना-पहचाना भी। मेरी ज़िंदगी कई हिस्सों में बंटी थी। एक हिस्से को अकेलापन चाहिए था। एक हिस्से को सच देखना था। और एक और हिस्सा — जो सालों इशारों से बना था — मानता था कि अब समय आ गया है।

व्यवस्थित जीवन जीने का समय। आगे बढ़ने का वक़्त। वह करने का वक़्त जो "अच्छी बेटियाँ" आखिर में करती हैं। मैं ऐसी दुनिया में बड़ी हुई जहाँ शादी सिर्फ़ एक पड़ाव नहीं थी, अच्छी लड़की होने की एक शर्त भी थी। पीढ़ियों से चली आ रही, प्रत्येक लड़की से समाज और परिवार की, एक ख़ामोश उम्मीद। खुलकर यह नहीं कहा गया कि 'शादी कर लो', पर कमरे में मौजूद हर व्यवहार में हर तरह — हर बातचीत में, हर मिलने-जुलने में, हर ज़बरदस्ती की मुस्कान में यह अनकही उम्मीद मौजूद रहती थी। बीस-पच्चीस की उम्र तक, मैंने उस सोच को जितना समझा था उससे कहीं ज़्यादा अपने अंदर उतार लिया था। तो हाँ, मैं जीवन में बदलाव चाहती थी।

हाँ, मैं शादी करना चाहती थी। पर उस चाहत का कुछ हिस्सा पूरी तरह मेरा नहीं था। वह उस समाज ने गढ़ा था जिसने मुझे पाला था, उन बातों ने जिन्हें मैंने बिना सवाल किए अपना लिया तथा इस यकीन ने कि जीवन में स्थायित्व साथी से आता है और उसके बिना बड़ा होना अधूरा है। शादी की चर्चा में भारत मेरे लिए बेहतर संभावनाओं वाला देश था। भारत को लेकर किसी भी तरह का दबाव नहीं था।

भारत एक ऐसी जगह है जहाँ शादी उतावलेपन की छलाँग नहीं, बल्कि आगे की जिंदगी के लिए उठाया गया सहज कदम प्रतीत होता है। एक ऐसा कदम जिसकी उम्मीद मेरे आस-पास हर कोई बिना कुछ कहे कर रहा था। लंदन मुझे अपने अतीत के बोझ से भारी लगता था। अतीत से जुड़ा था मेरा टूटा दिल, की गई गलतियाँ, खोई हुई नींद, और मेरा वह रूप जो मेरे लिए ही अब अपरिचित था | जिसे मैं अब पहचानती भी नहीं थी भारत में मुझे एक नई शुरुआत जैसा लगा। एक नया अध्याय, जिसकी ज़मीन पर किसी को नहीं पता था कि किस बात ने मुझे तोड़ा है, या प्रारंभिक दौर में ही मुझसे कहा गया "तूने नींद खराब कर दी" की शुरुआती परतों के बारे में।

वह बोझ मैं पहले से ही अपने सीने में ढो रही थी। इसलिए मैं भारत चली गई। सिर्फ स्थितियों को साफ़-साफ़ देखने या सिर्फ ठीक होने के लिए नहीं। बल्कि इसलिए कि समाज और सोच से बना मेरे जीवन का एक हिस्सा मानता था कि शादी में कदम रखने और आखिरकार एक ऐसी जिंदगी बनाने का यही सही वक्त है जिसका कोई मतलब हो। उस वक्त मैं नहीं जानती थी कि जिस अध्याय में मैं कदम रख रही थी, वही मेरी जिंदगी का सबसे लंबा, सबसे भारी और सबसे महत्वपूर्ण अध्याय बनने वाला था।

भरोसे की शुरुआत

जैसे जिंदगी के ज्यादातर बड़े मोड़ बिना चेतावनी के आते हैं, वैसे ही इसकी शुरुआत भी सीधे-सादे ढंग से हुई। एक सामान्य बातचीत के दौरान एक सुझाव आया।

एक नाम यूँ ही बातों-बातों में ले लिया गया, जैसे भविष्य को मेज़ पर चाय के कप की तरह रख दिया जाए। कोई दबाव नहीं था, न कोई भाषण और न उपदेश कि "अब समय आ गया है।" पर उस नरमी के नीचे समाज की जानी-पहचानी उम्मीद की भनभनाहट थी। बीस-पच्चीस उम्र की एक बेटा, भारत आई है। वैवाहिक जीवन में बंधने के लिए एक संभावित योग्य व्यक्ति से उसकी मुलाकात कराई जा रही है।

और क्योंकि मैं आगे बढ़ना चाहती थी, क्योंकि मुझे दिशा चाहिए थी, क्योंकि मैं अगले अध्याय में कदम रखना चाहती थी। समाज ने जैसा सिखाया था कि औरतों को करना चाहिए, मैंने वैसा ही किया — मैंने मना नहीं किया। मैं सुन्न नहीं थी। मैं खोई हुई नहीं थी। मैं बेसब्र नहीं थी। मैं उम्मीद से भरी थी और साथ ही सोच में ढली हुई भी। उम्मीद और सोच, साथ-साथ। मैं घर बनाना चाहती थी। मैं किसी की बनना चाहती थी। मैं पत्नी बनना चाहती थी। क्योंकि यही वह कहानी थी जो मुझे बहुत पहले थमा दी गई थी। उस समय मुझे यह भी नहीं पता था कि मुझे अपनी कहानी खुद लिखने का हक है।

लेकिन जब सुझाव आया — इस परिवार से मिलो, इस लड़के से मिलो, तो मैंने हाँ कह दी।

आँख बंद करके नहीं। लाचार होकर नहीं। इसलिए नहीं कि मैं अपने लिए सोच नहीं सकती थी। बल्कि इसलिए क्योंकि मैं शादी करना चाहती थी, और कहीं गहरे अंदर तक मैं मानती थी कि मेरी चाह यही होनी चाहिए थी। और उम्मीद + सोच का साथ-साथ होने से कुछ भी धुंधला नहीं था, सभी चीजें मुझे साफ़ लग रही थीं।

अब पीछे मुड़कर देखती हूँ तो सच धीरे से दिखता है: मैं कोई इंसान नहीं चुन रही थी। मैं एक दिशा चुन रही थी।

ठहराव चुन रही थी। ज़िंदगी का वह अध्याय चुन रही थी जिसमें मेरे आस-पास की हर औरत उसी सहजता से कदम रखती दिखती थी, जैसे कि वे साँस लेती थीं। मैं आगे बढ़ी — हार मानकर नहीं, बल्कि इस सच्चे यकीन से कि मेरी ज़िंदगी यहीं से शुरू होने वाली थी।

पहली छाप और खामोश अदाकारियाँ

आम लोगों की सोच के विपरीत हमारी पहली मुलाकात हुई थी। न कोई औपचारिक परिचय था, न बैठने का तय तरीका, न अटपटे सवाल-जवाब। मेरे भाई ने उसे एक बहाने से बुलाया, "कंप्यूटर ठीक करना है, आ सकते हो?"

वैवाहिक संबंध के लिए ऐसे अनौपचारिक आयोजन के उद्देश्य को परिवार ज़ाहिर नहीं करते हैं। ऐसे आयोजन के परिणाम से किसी को भी हानि नहीं होती है।

उसके आने से पहले ही हवा में एक धीमी गुनगुनाहट थी। एक साझा उत्साह। संभावना का एहसास। दबाव नहीं — बस वही जानी-पहचानी सोच कि "हमारी लड़की से मिलने कोई अच्छा इंसान आ रहा है।"

जब वह अंदर आया, तो कुछ नाटकीय या फ़िल्मी नहीं था, पर हृदय में कुछ तो जगा। एक गर्माहट, एक बदलाव का एहसास हुआ।

मेरे अंदर रौशनी की एक हल्की-सी लौ जगी और कहा, "यह कोई अपना हो सकता है।"

वह सहज आत्मविश्वास लिए कमरे में दाखिल हुआ। अजनबियों से भरे कमरे में भी वह इत्मीनान से था।

उसमें ठहराव था। वह दृढ़ निश्चय था। और मैं?

चेतना में हलचल थी। मैं बर्फ-सी जमी नहीं थी। न उसके व्यक्तित्व को पढ़ रही थी, न उससे दूरी महसूस कर रही थी। मैंने उत्साह महसूस किया। एक नई जिंदगी शुरू होने की उम्मीद जगी। मैं बोलने से अधिक मुस्कुराती रही। मैंने उसका बोलने का अंदाज़ देखा। उसके होने से कमरा कैसे भर गया था, वह भी देखा। वह न अव्यवस्थित नज़र आ रहा था और न दुविधाग्रस्त। मेरे अंदर दिवाली के पटाखे नहीं फूटे मगर, खुशी उससे भी अधिक थी।

उसके होने से सुकून था और अपनेपन की गर्माहट थी। वह स्वाभाविक तौर पर भरोसेमंद लगा। बग़ैर किसी नाटकीयता के उससे जुड़ाव हो गया।

उसके जाने के बाद मेरे भाई ने धीरे से पूछा, "क्या उसे फिर से बुलाऊँ?" बगैर किसी हिचकिचाहट के मैंने रज़ामंदी दे दी।

मैंने पूरी सोच-समझकर हाँ कहा था। क्योंकि मुझे पता था कि मैं क्या चाहती हूँ। मैं शादी करना चाहती थी। मैं एक नई शुरुआत चाहती थी। मैं एक ऐसी ज़िंदगी चाहती थी जो फिर से समझ में आए। और बहुत समय बाद पहली बार, मेरे दिल में हल्केपन का भाव था। न भय था, न भ्रम था, उम्मीद का एक पौधा लहलहा उठा था।

छह हफ़्तों में एक नई ज़िंदगी

महज़ छह हफ़्ते बाद, मैं विवाह के बंधन में बंध रही थी। मैं पूरी तरह जागरूक थी, संपूर्ण भावनाओं के साथ शामिल थी और सच्चे मन से उत्साहित थी। कोई जल्दबाज़ी का एहसास नहीं था। कोई घबराहट नहीं थी। कोई दोबारा सोचना नहीं था। सब सही लग रहा था। मेरा परिवार खुश था। सारे संकेत शुभ लग रहे थे।

ज़िंदगी फिर से शुरू करने के लिए भारत सही जगह लगी। अपनी शादी से जुड़ी हर बात मुझे साफ़-साफ़ याद है, कुछ भी धुंधली नहीं। वह रौनक, वह संगीत, वह खुशी, जिस तरह मेरा परिवार एक खुशी के जश्न में जी उठा था। और फिर वहाँ लंदन में मेरी सहेलियाँ थीं, जो मेरी प्रसन्नता का एक प्रमुख कारण बनीं।

बिना हिचकिचाए मेरे विवाह में सम्मिलित होने भारत आई। उन्होंने अपना समय दिया, हर रस्म में मौजूद रहीं, और हर काम में हाथ बँटाती रहीं। वे लोग जिन्होंने मुझे मेरी ज़िंदगी के अलग-अलग दौरों में जाना था, मेरे साथ खड़ी थीं जब मैं जीवन के नए अध्याय में प्रवेश कर रही थी। उनकी खिलखिलाहटें उन दिनों मेरे आस-पास गूँजती रहीं। मुझे संभाले रखा। मुझे याद दिलाती रहीं कि वे मुझे केवल इस क्षण में नहीं, हमेशा प्यार करती हैं।

उनमें से एक ने मुझे चौंका दिया। सुखद आश्चर्य हुआ। उसके आने की मुझे उम्मीद नहीं थी। पहले से ही भावुक सप्ताह को न भूलने वाला बना दिया। इस तरह का

प्यार आपके साथ रह जाता है। वह प्यार जो कहता है, तुम इतनी अहम हो कि तुम्हारे पास आने के लिए दूरी मायने नहीं रखती है।

अपने लेडीज़ संगीत में, मैंने 'Made in India' पर बहुत दिल से नृत्य किया, हँसते हुए, चमकते हुए, उन लोगों से घिरी हुई जिनका प्यार किसी आशीर्वाद जैसा लगता था। मेरी चूड़ियाँ खनकों, मेरे पैर आज़ाद होकर थिरके, और एक पल के लिए मुझे लगा जैसे मैं अपनी ही खूबसूरत फिल्म की हीरोइन हूँ। मैं नाटक नहीं कर रही थी। मैं चेतनाशून्य नहीं थी। मैं कोई खालीपन नहीं भर रही थी।

मैं खुश थी। सच में खुश।

मैं अपनी नई ज़िंदगी शुरू करने, शादी में कदम रखने और कुछ ठोस और सार्थक बनाने के लिए उत्साहित थी।

मेरी संस्कृति में औरतों को शादी के बारे में बहुत कुछ सिखाया जाता है, कि शादी से प्यार बढ़ता है, समझ गहरी होती है, ज़िंदगी एक साझेदारी में ढल जाती है। मैं यह सब उम्मीद और सच्चाई के साथ मानती थी। उस भोलेपन के साथ मानती थी कि शादी से ज़िंदगी में आखिरकार सब कुछ सही जगह पर आ जाएगा।

मैं शादी में किसी चीज़ से भागती हुई लड़की बनकर नहीं गई थी, बल्कि एक औरत बनकर गई थी जो उस भविष्य की ओर बढ़ रही थी जिसका सपना उसने अपने लिए देखा था। एक ऐसा भविष्य जिसके बारे में मुझे पता नहीं था कि वह मुझे उन तरीकों से परखेगा जिनकी मैं कभी कल्पना भी नहीं कर सकती थी।

शुरुआती दिन — बिना ठहराव की खूबसूरती

शुरुआती हफ़्ते भागदौड़ से भरे थे। पारिवारिक मिलने-जुलने का सिलसिला जारी था। शहरों के बीच आना-जाना, लगातार सफ़र और मुलाकातें। हमारी साझी दिनचर्या धीरे-धीरे बन रही थी। जिन पलों में वह मौजूद रहता था, उनमें प्यार और अपनत्व की गर्माहट होती थी। इन पलों में मैंने खुद को यकीन दिलाया कि शादी की शुरुआत शायद ऐसी ही लगती है।

पर कुछ खटक रहा था। बात छोटी-सी थी, चुभन हल्की थी। नज़रअंदाज़ करने लायक। मेरे विचारों को हल्के में ढाल दिया जाता। भावनाओं को स्वीकार किया गया, पर समझा नहीं गया। बातें बस ऊपर-ऊपर रहीं। हम कभी गहराई में उतरे ही नहीं।

उनके शारीरिक संपर्कों में भावनाएँ कभी-कभी झलकती थीं। इन बातों से न तो मुझे कोई चोट पहुँची और न ही मैं भयभीत हुई। यह बस मेरे लिए अनजाना था। ऐसी हालत में, स्थितियों के अनुसार खुद को ढाल लिया। मैंने खुद से वही बातें दोहराई जो औरतों को दोहराना सिखाया जाता है:

यह शादी है।

तुम्हें सब्र चाहिए। तुम्हें समझना चाहिए।

आगे चलकर यह स्थिति और बढ़ेगी।

एक बात मैं तब नहीं समझी थी। वैवाहिक जीवन में शांति बनाए रखने के लिए मैं धीरे-धीरे, ज़रा-ज़रा करके, खुद के हिस्सों को छोटा करना सीख रही थी। एक ऐसा हुनर जो मेरी आदत बनने वाला था।

खुद बनने से पहले एक पत्नी बनना

बहुत जल्दी, शादीशुदा ज़िंदगी मुझ पर एक ऐसी चादर की तरह ढक बैठी जो अनकही उम्मीदों से सिली हुई थी।

इससे पहले कि मैं कुछ प्रश्न पूछती, रिश्ते-नाते पहले ही सामने आ गए और जिम्मेदारियाँ चुपचाप जुड़ती चली गईं।

और इन सबके बीच, एक औरत के रूप में मैं स्वयं के सच को जान पाती, उससे पहले ही मैं माँ बन गई। दिन शांत हो गए। ज़्यादा सधे हुए। मेरे दिन ऐसे साँचे में ढल गए — जो मैं अपने लिए चाहती थी उससे ज़्यादा, जो मुझसे चाहा गया उसके हिसाब से। मुझे काम की याद आती थी। मेरे लिए नौकरी महत्वपूर्ण नहीं थी। काम

मुझे पहचान देता था। मुझे उस पहचान की ज़रूरत थी। ताकि जीवन में एक उद्देश्य का एहसास हो।

घर-गृहस्थी के दायरे से परे अन्य क्षेत्रों में भी अपनी गतिविधियों और उपस्थिति का एहसास हो।

भारत में, मुझे पता नहीं था कि किस रूप में मेरी भूमिका सही है। मैं न तो सांस्कृतिक रूप से, न तो भावनात्मक रूप से, न ही निजी तौर पर खुद को उपयुक्त पा रही थी। अकेलापन का एहसास होने लगा। अकेलापन शीर मचाकर नहीं आया। आपसी बात के बीच की बढ़ती चुप्पी के खालीपन से, शांत शामों से, खोखली मुस्कुराहटों से अकेलापन धीरे से रेंग कर आया। मैं असुरक्षित महसूस नहीं करती थी। पर थामी हुई भी महसूस नहीं करती थी। इस फर्क को मैं सालों बाद समझ पाई। यह फर्क ही उन सभी घटनाओं की शुरुआत थी, जो मेरी बाद की जिंदगी में घटित हुईं।

वह पहली दरार जिसे मैं नज़रअंदाज़ नहीं कर पाई

शादी के कुछ महीनों बाद, कुछ बारीक-सा बदलना शुरू हुआ — उसमें नहीं, वैवाहिक जीवन में नहीं, बल्कि मेरे अंदर। यह तब हुआ जब मैं कुछ दिन के लिए अपने घर गई — उन लोगों के बीच घिरी हुई जो मुझे जिंदगी के उलझने से बहुत पहले से जानते थे, जो मेरी हँसी, मेरे हाव-भाव, मेरी असली आवाज़ पहचानते थे। मेरे अंदर कुछ हल्का-सा लगा। हर वक़्त खुद को दूसरों के अनुरूप ढालते रहने का कोहरा कुछ छँटा। मैंने थोड़ी गहरी साँस ली, थोड़ा सीधा खड़ी हुई, फिर से थोड़ा ज़्यादा खुद जैसी लगी। उम्मीद धीरे से फुसफुसाई: शायद चीज़ें आसान हो जाएँ। शायद नज़दीकी बढ़े। शायद यह सिर्फ़ शुरुआती दौर है। मैं तय वक़्त से पहले लौट आई.....तय वक़्त से पहले, उम्मीद की एक छोटी-सी चिंगारी अपने साथ लेकर। पर उसकी प्रतिक्रिया ठंडी थी। नकारात्मक नहीं। सख़्त नहीं। बस... ग़ैरहाज़िर।

एक खामोशी जो एक पल ज़्यादा लंबी थी। एक नज़र जिसमें वह गर्माहट नहीं थी जो मैंने सोची थी। एक पल जहाँ मेरी कोशिश बस पहुँच ही नहीं पाई। यह क्रूर नहीं

था। नाटकीय नहीं था। जानबूझकर भी नहीं था। पर इसने कुछ बदल दिया। यह पहली बार था जब मैंने खुद को उस ज़िंदगी में बेगाना महसूस किया जिसमें मेरा होना था।

न घर की याद। न परेशान। बस चुपचाप बेमेल। एक दरार — पतली, लगभग न दिखने वाली, पर गहरी। ऐसी दरार जिस पर आप पहले-पहल कदम रखकर निकल जाते हैं, जब तक कि एक दिन पीछे मुड़कर आप समझ न पाएँ कि यही एक बढ़ती हुई दरार की शुरुआत थी। मैंने दलीलें दीं। मैंने खुद को बहाने दिए। मैंने खुद से कहा कि मैं ज़्यादा सोच रही हूँ। कि शादी में समझौता करना पड़ता है। कि नज़दीकी वक्त के साथ बढ़ेगी। मैं वह सुनने को तैयार नहीं थी जो मेरे भीतर की आवाज़ फुसफुसा रही थी।

अभी नहीं।

गर्भावस्था और उम्मीदों का बोझ

सब कुछ बदल गया जब मुझे पता चला कि मैं माँ बनने वाली हूँ। इस खबर का जश्न मनाया गया — सच्ची, दिखने वाली खुशी। ऐसी खुशी जो कमरा रोशन कर दे, ऐसी जो अनिश्चितता में भी गर्माहट देती है।

और एक पल के लिए, मैंने खुद को यकीन दिलाया कि यह वह पुल बनेगा जो हम थे और जो हम बन सकते थे, उसके बीच का। कि यह नई ज़िंदगी किनारों को नरम कर देगी, नज़दीकी बनाएगी, वह पारिवारिक बंधन बनाएगी जिसके लिए मैं तरस रही थी।

पर गर्भावस्था सिर्फ़ ज़िंदगी नहीं बढ़ाती। यह हर चीज़ को बड़ा कर देती है। हर डर। हर उम्मीद। हर खामोशी। हर गैरमौजूदगी। मेरा शरीर हर दिन बदल रहा था। हार्मोन्स ने मेरी संवेदनशीलता, मेरी ज़रूरतों, मेरे सुरक्षित और भावनात्मक रूप से थामे जाने की चाहत को बड़ा दिया था। पर ज़्यादा जुड़ा हुआ महसूस करने के बजाय, मैं खुद को और ज़्यादा बँधा हुआ महसूस कर रही थी —

...जैसे मैं एक ज़िंदगी को पाल रही थी और साथ ही खुद को भावनात्मक रूप से संभाल भी रही थी। कुछ भी बुरा नहीं हो रहा था। कुछ भी नाटकीय नहीं था।

कुछ भी दिखने वाला नहीं था। पर साथ न मिलना भी अपने आप में एक तरह का अकेलापन है। मेरी अनदेखी नहीं हो रही थी। मेरे साथ बुरा बर्ताव नहीं हो रहा था। पर मुझे भावनात्मक रूप से थामा भी नहीं जा रहा था। मुझे बड़े-बड़े दिखावे नहीं चाहिए थे। मुझे तसल्ली चाहिए थी।

मुझे नर्मी चाहिए थी। मुझे मौजूदगी चाहिए थी — सिर्फ शारीरिक मौजूदगी नहीं, बल्कि भावनात्मक उपलब्धता।

इसके बजाय, मैंने मज़बूत रहना सीखा। खुद को काबू में रखना सीखा। खुद को चुपचाप तसल्ली देना सीखा।

मैंने खुद से कहा कि शुक्रगुज़ार रहो। सब रखो। समझदार बनो। कम माँग करने वाली बनो। मैंने खुद से कहा कि ज़्यादा मत माँगो। क्योंकि जब तुम गर्भवती हो — खासकर ऐसी संस्कृति में जहाँ औरतों से "सब कुछ संभालने" की उम्मीद की जाती है — तो तुम खुद को यकीन दिला लेती हो कि तुम्हारी ज़रूरतें बोझ हैं। और इसलिए, मैंने उन्हें अंदर दबा दिया।

जब कोशिश एकतरफ़ा हो जाए

जैसे-जैसे महीने बीते, कुछ बदलना शुरू हुआ — धीरे-धीरे, चुपचाप, बारीक़ी से। मैं वह बन गई जो नज़दीकी की पहल करती, जो खामोशियों को ठीक करती, जो भावनात्मक किनारों को नरम करती, जो ज़्यादा कोशिश करती, शायद अकेली कोशिश करने वाली।

यह कोई समझौता नहीं था। यह जानबूझकर नहीं था। यह बस सबसे आसान रास्ता था। शादी धीरे-धीरे एक ऐसी जगह बन गई जिसकी देखभाल मैं करती थी। एक ऐसी जगह जिसे मैं चलाती थी। एक ऐसी जगह जिसे मैं जोड़कर रखती थी। भावनात्मक ज़िम्मेदारी मेरे कंधों पर चुपचाप आ बैठी, इससे बहुत पहले कि मैं

समझ पाती कि मैं इसे ढो रही हूँ। मैं वह बन गई जो दूसरों की इच्छानुसार ढलती थी। समझौते अक्सर मैं करती थी। हालाँकि उसने मुझसे यह करने के लिए नहीं कहा। पर जब वह नहीं था, तो एक सन्नाटा था। उसकी गैरमौजूदगी ने एक खालीपन पैदा कर दिया। और हम औरतें, खासकर दक्षिण एशियाई औरतें, भावनाओं की कमी को पहले ही भर देती हैं — उससे पहले कि कोई पूछे कि कमी है भी या नहीं। दक्षिण एशियाई औरतों को सिखाया जाता है कि भावनाओं का खालीपन भर दें।

हालात के मुताबिक खुद को जितना ढालती गई, मेरा वजूद उतना ही सिमटता गया। मैंने इसे परिपक्व होना कहा। मैंने इसे सिकुड़ना नहीं कहा। मैंने इसे दलील देकर समझदारी का नाम दिया। मैंने इसे खुद को मिटाना नहीं कहा। मैंने इसे कोशिश कहा — एक ईमानदार कोशिश, सब ठीक रखने की। पर मेरे शरीर को मेरे दिमाग से बहुत पहले पता चल गया था: कुछ तो बिखरा हुआ था।

यह तनाव छोटी-छोटी बातों में रहता था। आपसी बातचीत में मेरी बात पूरी सुनी नहीं जाती थी। जहाँ तसल्ली मिलनी चाहिए थी, वहाँ खामोशी पसरी रहती थी। जुड़ाव के पल भी आधे-अधूरे ही होते थे। इनमें से कोई भी समस्या इतनी बड़ी नहीं थी कि दुनिया को बताऊँ। पर, इन्हें भीतर-भीतर ढोना बहुत भारी था। मैं खुद से ऐसे सवाल करने लगी जिन्हें जुबान पर लाने का साहस नहीं जुटा पा रही थी:

घर का माहौल ठीक रखने की जिम्मेदारी सिर्फ मुझ पर ही क्यों है? रिश्तों को जोड़े रखने की कोशिश सिर्फ मैं ही क्यों कर रही हूँ?

मैं हर वक्त खुद को संभालती क्यों हूँ? मैं उसके पास होकर भी लंदन में अकेले रहने से ज्यादा अकेली क्यों महसूस करती हूँ? पर ये सवाल चुप रहे — कर्तव्य, संस्कार, एहसान और उम्मीद के बोझ तले दबे रहे। मैं माँ बनने वाली थी। और माँ बनते-बनते उस औरत के लिए जगह ही नहीं बचती जो अपने दर्द पर सवाल उठाए।

वह सवाल जिससे मैं बचती रही

मैं किसी भी चीज़ का सामना करने को तैयार नहीं थी। न अपनी बेचैनी का। न बढ़ती हुई दूरी का। न उन छोटी-छोटी गैर-मौजूदगियों का, जिनका असर अब दिखने लगा था। मैंने शिकायत नहीं की। मैंने उलाहना नहीं दिया। मैं बिखरी नहीं।

इसके बजाय, मैंने खुद से पूछना शुरू किया — मन ही मन, थोड़ी देर के लिए, डरते हुए: तुम उस ज़िंदगी में कब तक रह सकती हो जो तुम्हें धीरे-धीरे मिटा रही है?

यह कोई धमकी नहीं थी। यह कोई योजना नहीं थी। यह एक सोच-समझकर किया गया विचार भी नहीं था। यह एक ग़म था। उस औरत के लिए ग़म जो कभी मैं पहले थी। उस भावनात्मक नज़दीकी के लिए ग़म जिसके लिए मैं तरसी थी। शादी के उस रूप के लिए ग़म जिसमें मैं बड़ी होने की सोच रही थी। और ग़म हमेशा एक फुसफुसाहट से शुरू होता है। मैं पूरी तस्वीर नहीं देखना चाहती थी। मैं इसे महसूस करने से भी बच रही थी।

मैं इसका नाम रखने को तैयार नहीं थी। क्योंकि नाम रखने से मुझे एक डरावनी सच्चाई माननी पड़ती:

मैं खुद को खो रही थी। फिर भी, मैंने खुद को उसी एक तरीके से बहलाया जिसे मैं जानती थी:

मज़बूत बनो। धैर्य रखो। आभारी रहो। हालात के साथ ढल जाओ। और चुप रहो। और यही मेरी पहचान बन गई।

जब मज़बूती आदत बन गई

मैं मज़बूत इसलिए नहीं बनी कि मैं बनना चाहती थी। मैं मज़बूत इसलिए बनी क्योंकि मज़बूत न होना असुरक्षित लगता था।

मैं मज़बूत इसलिए बनी क्योंकि नर्म होने में बहुत खतरा था। मैं मज़बूत इसलिए बनी क्योंकि मेरे आस-पास हर किसी को मेरी मज़बूती चाहिए थी। खुद को मज़बूत बनाना एक ज़रूरत की तरह शुरू हुई। फिर वह आदत बन गई। फिर पहचान। मुझे पता ही नहीं चला कि यह बदलाव कब हुआ। कोई एक पल नहीं था। कोई संकट

नहीं। कोई घटना नहीं। यह बार-बार दोहराने से हुआ। हर बार जब किसी ने कहा "तुम कितनी मज़बूत हो," मेरे अंदर कुछ सख्त हो जाता — क्योंकि मैं जो सुनती थी वह यह था:

"शुक्र है तुम टूट नहीं रही हो।"

मज़बूती मेरी ज़िंदा रहने की भाषा बन गई। और जब मज़बूती तुम्हारी आदत बन जाती है, तो तुम्हारा शरीर भी वैसा ही बन जाता है। तुम रोना बंद कर देती हो। तुम माँगना बंद कर देती हो। तुम्हें ज़रूरत होना बंद हो जाता है। तुम्हें थामे जाना बंद हो जाता है, क्योंकि कोई भी मज़बूत लोगों से थामे जाने की उम्मीद नहीं करता।

दुनिया उनसे हाल नहीं पूछती। वह उन पर टेक लगाती है।

पर मज़बूती की एक कीमत होती है। एक खामोश कीमत। यह शरीर में बस जाती है; तनाव बन जाती है, फिर चौकन्नापन, फिर थकान। आखिरकार, थकान कुछ समय की नहीं लगती और लगने लगता है कि यही तुम हो।

माँ बनने से पहले तक, मज़बूती कोई ऐसी चीज़ नहीं थी जो मैं दिखाती थी। यह कुछ ऐसा था जो मैं अपने अंदर जीती थी। मेरा शरीर एक ज़िंदगी, दबाव, खामोशी, और एक ऐसी शादी ढो रहा था जिसका नाम देना मैं तब तक नहीं जानती थी।

मैं तब नहीं समझती थी जो मैं अब जानती हूँ: शरीर हिसाब रखता है। हर अनकही ज़रूरत, हर निगला हुआ सच — अपना निशान छोड़ जाता है।

यह समझ बहुत बाद में आई।

फ़िलहाल, अध्याय दो में, यह बस शुरुआत थी।

भीतर की हिम्मत मुश्किल हालात में भी जीने का रास्ता दिखाती है। हिम्मत के साथ जीने का यही तरीका आदत बन जाता है। और यही आदत धीरे-धीरे पहचान बन जाती है। इसी जद्दोजहद में एक औरत चुपचाप, धीरे-धीरे खत्म होने लगती है — बिना यह जाने कि ज़िंदा रहने के लिए वह खुद को कितना खो रही है।

अध्याय 3

एक वाक्य जिसने सब बदल दिया

मेरी जिंदगी में फिर से बदलाव आया। यह न किसी नाटकीय घटना का नतीजा था, न किसी मुद्दे पर हुए विवाद का, न किसी लड़ाई या मनमुटाव का। जिंदगी में यह बदलाव उस एक वाक्य की वजह से आया जो चुपके से दिल में बैठ गया। इससे पहले भी बातें हुई थीं। बातचीत हुई थी। हमने आपस में विचार साझा किए थे। जरूरत की बातें होती थीं धीरे-धीरे, आराम से। कुछ भी अचानक नहीं था, न ही विस्फोटक। और फिर एक दिन उसका फैसला आ गया। हालांकि, यह आदेश नहीं था, न कोई जिद। बस ऐसा कुछ था जो उसके दिमाग में पहले से तय हो चुका था। ब्रिटेन जाना उसे सही लगा। उसे लगा कि वहां तरक्की के मौके हैं। वहां जिंदगी में ठहराव है। यह आगे बढ़ने की ओर एक कदम है। मैंने न आपत्ति की और न बहस। मैंने कोई सवाल नहीं उठाया। मैं खुद से भी नहीं पूछा कि क्या मैं सच में यही चाहती हूं? मैं उसके पीछे-पीछे चल पड़ी जैसे अब तक कई मौके पर चलती आई थी, बस बिना रुके, खुद से पूछे बगैर कि मैं कैसा महसूस कर रही हूं। यह न अंधानुकरण था और न ही इच्छा के विपरीत कदम। ऊपर से तो यह फैसला उचित, समझदारी भरा तथा सयानों द्वारा लिया हुआ लगा। शादीशुदा जिंदगी ऐसे ही चलती है। कागज़ पर तो यह सब सही था, पर दिमाग से पहले शरीर ने इस बदलाव को भांप लिया था। हल्का सा कसाव जो तब होता है जब कोई जरूरी चीज़ बिना पूरी तरह सोचे-समझे अपनी राह बदल लेती है। न भय था। न घबराहट थी। बस दिशा का भटकाव था।

मेरे पैरों तले जमीन धंसी तो नहीं, बस खिसक गई। मैंने सहमति दी, मगर सच यह था कि मैंने हालात के मुताबिक खुद को ढाल लिया। इसे भी मैंने एक और समझौता मान लिया। तब तक मैं नए दायित्व, नई ऊर्जा, नई उम्मीदों के हिसाब से खुद को बदल लेने में माहिर हो चुकी थी।

वैवाहिक जीवन, मातृत्व, परदेश में जीवन — समय-समय पर नए-नए दायित्व मिलते गए। दायित्व की पिछली परत के बैठने से पहले ही एक और परत।

मैंने अभी-अभी एक नाजुक लय पकड़ी ही थी। सुकून नहीं, भरोसा नहीं, पर टिकने लायक स्थिरता थी। और फिर वह लय भी बदल गई। ऐसा इसलिए नहीं कि कोई मेरा बुरा चाहता था, न ही इसलिए कि कोई मुझे दुखी देखना चाहता था। बस इसलिए कि मैं दूसरों के फैसलों के साथ चलना सीख गई थी, यह जाने बिना कि वे मुझसे क्या छीन रहे हैं।

"बड़े होने" का झूठ

उस समय, मैंने खुद से कहा यह बड़ापन है। यह शादी है। यह जिम्मेदारी है, मेरी जिम्मेदारी। अच्छा करने वाली औरतें यही करती हैं। वे ढल जाती हैं। वे सह लेती हैं। वे निभा लेती हैं। मैंने खुद को भरोसा दिलाया कि मैं इसे संभालने लायक मजबूत हूँ।

दूसरे लोग इससे भी खराब हालत झेलते हैं। अभिभूत होना आभार की कमी थी, तकलीफ का संकेत नहीं। मैं अभी एक सीधी बात नहीं समझी थी: मैं तालमेल नहीं बिठा रही थी। मुझे धक्के मिल रहे थे। मेरी जिंदगी में बदलाव पर बदलाव आते रहे। उम्मीद पर उम्मीद। अकेलापन पर जिम्मेदारी। भ्रम पर चुप्पी। मेरे दिल और दिमाग को संभलने का समय नहीं मिला। मेरी पहचान को कभी साथ चलने का समय नहीं मिला।

मेरे शरीर को कभी मौका नहीं मिला कि वह एक ही सवाल पूछे जो जरूरी था: इसकी कीमत मुझे क्या पड़ रही है? तब, मैं यह पूछने को तैयार नहीं थी। मैं बस जिंदगी काट रही थी और उसे हिम्मत कह दिया।

भारत - एक कठिन, स्नेहील शिक्षक

भारत ने पहले ही भीतर तक मुझे बदल दिया था। उसने मुझे आडंबर और अहम् के अनावरण से अनावृत कर स्वयं को देखना सिखाया। नरम कर दिया। भारत ने गूढ़ विचारों के कारण भ्रम में डाल दिया। विनम्र कर दिया।

उसने मुझे शब्दों के बजाय मनोदशा पढ़ना सिखाया। बातचीत के बजाय चुप्पी के साथ चलना सिखाया। बोलने के बजाय सामंजस्य बिठाना सीखा। और धीरे-धीरे, बहुत धीरे-धीरे, मैंने कुछ ऐसा गढ़ना शुरू किया जो जिंदगी जैसा लगता था। किसी सपने की हलचल नहीं। कोई विशेष सुकून नहीं। पर इतना ठहराव तो था कि उसके अंदर खड़ी हो सकूँ।

- दिनचर्या

- जाना-पहचाना

- एक लय

- जरा-सी अपनी जगह

- चुपचाप तराशे हुए सुकून के छोटे-छोटे कोने

वे सब पूरी तरह मेरे नहीं। पर अब बिखराव नहीं था। और जैसे ही वो नाजुक सा ठहराव बनने लगा, फ़ैसला आ गया।

जैसे ही मैंने साँस लेना सीखा, हवा का रुख फिर बदल गया।

अनदेखे सच

दूर से, मैं एक साथ एक से ज़्यादा सच देख पाती हूँ। उसके लिए, वो कदम आगे बढ़ना लगा होगा, स्पष्ट सोच की तरफ़, किसी ऐसी चीज़ की तरफ़ जो भीतर से

सही लगती थी। मेरे लिए, वो नुकसान जैसा लगा। किसी देश का नहीं, पर अपने पैर जमाने की जगह का। इस निर्णय से शायद वह स्वयं को आगे बढ़ना मान रहा था और मेरे लिए उसके साथ चलना एक मजबूरी थी।

दोनों सच हो सकते हैं। मायने नीयत के नहीं थे। मायने असर के थे। मैं उस फ़ैसले में शामिल महसूस नहीं करती थी। मैं खुद को उसके साथ बहता हुआ महसूस करती थी। और, वो फ़र्क, जो बाकी सबको दिखता ही नहीं — मेरे सीने में चुपचाप घर कर गया। इतना जोर से नहीं कि चुनौती दे सकूँ। इतना धारदार नहीं कि सामना कर सकूँ। बस इतना गहरा कि याद रख सकूँ।

समान समेत भारत छोड़ने का दर्द

मई आते-आते, भारत वाले हमारे घर में गृहस्थी का सामान भर चुका था। गृहस्थी समेटना एक अलग तरह का शोक है — एक ऐसी जिंदगी को धीरे-धीरे तोड़ना है जिसे तुम अभी जीना सीख ही रही थी। तुम सिर्फ़ सामान नहीं बाँधतीं।

तुम समेटती हो अपने प्रयास, तालमेल, लम्हे, आधी नींद में जगी सुबहें, और वो रातें जो तुमने उस जगह आराम करने में गुज़ारीं जो तुम्हें कभी पूरी तरह जान नहीं पाई। हर खाली की हुई अलमारी मिटाने जैसी लगती थी — आलमारियों के खानों को खाली करना इस बात का सबूत था कि मैंने चुपचाप, लगातार, सच्चे दिल से घर बसाने की कोशिश की थी और उन निशानों को मिटा रही हूँ। मैंने खुद से कहा कि मैं अक्ल से काम ले रही हूँ। मैं एक-एक कर सामान समेट रही थी, पर असल में, मैं छोटे-छोटे टुकड़ों में घर से विदा ले रही थी कि हिम्मत बनी रहे, एक साथ बिखर न जाऊँ। हमारे आस-पास, मायूसी हवा को भारी कर रही थी।

हम लोग उस फ़ैसले से जूझ रहे थे। पूरा माहौल जूझ रहा था। और उस जद्दोजहद में, एक कहानी चुपचाप बन गई — बोली नहीं गई, किसी ने स्वीकार नहीं किया, पर साफ़-साफ़ मौजूद थी। एक ऐसी कहानी जिसकी धुन जानी-पहचानी थी:

"तूने नींद खराब कर दी"

तूने हमारा सुकून खराब किया। तूने घर का चैन छीन लिया। तेरी मौजूदगी ने जो आरामदायक था, उसे हिला दिया।

किसी ने इसे जोर से नहीं कहा। ज़रूरत ही नहीं थी। मैं इसे ठहराव में महसूस कर सकती थी, मेरी पीठ पीछे की नज़रों के आदान-प्रदान में, उन बातचीत में जो मेरे कमरे में आते ही धीमी हो जाती थी। दोष किसी पर मढ़ना ही था, और हमारे समाज में अक्सर यह औरत पर ही मढ़ा जाता है। बहू ही हर किसी की नाराज़गी का शिकार बनती है। मैंने किसी को टोका नहीं। मैंने अपना बचाव नहीं किया। मैंने ये नहीं समझाया कि असल में मेरे हाथ में कितना कुछ कम था, या मैं अंदर से कितनी उलझी हुई थी, या मैं भी कितना कुछ खो रही थी। चुप रहना, सच बोलने से ज़्यादा सुरक्षित लगा।

किसी के भी समझने से पहले यह भी हो रहा था कि जब उँगलियाँ चुपचाप मेरी तरफ़ उठ रही थीं, मेरी नोंद भी उड़ रही थी।

लंदन वापसी — सबसे अजीब घर वापसी

लंदन लौटना, अब एक पत्नी और मिखाल की माँ के तौर पर, ज़मीन से जोड़ने वाला लगना चाहिए था। सुकून देने वाला। जाना-पहचाना। पर इसके बजाय, लगा जैसे मैं उस ज़िंदगी में वापस कदम रख रही हूँ जो मुझसे पुरानी वाली मेरी पहचान चाहती थी। वह 'मैं' जिसने घर को संभालने के लिए खुद को कभी सौ शक्लों में ढालना नहीं सीखा था।

पर मैं अब कोई और हो चुकी थी। ऊपर-ऊपर से देखने में नहीं, अंदर तक सोच, समझ से पूरी तरह बदल चुकी थी। मैं एक पत्नी थी। एक माँ थी। परदेश से गढ़ी हुई एक औरत थी। मैं अब एक ऐसी औरत थी जिसने तनाव को खामोशी से सहना सीख लिया था। और उससे यह भी उम्मीद की जाती थी कि आसपास के माहौल को समझे तथा शांति बनाए रखे, जबकि यह उसकी अकेले की जिम्मेदारी नहीं थी।

मेरे माँ-बाप ने मुझे गर्मजोशी से गले लगाया, पर मैं उनकी झिझक महसूस कर सकती थी जैसे वो मुझे पहचानने की कोशिश कर रहे हों जबकि मैं खुद को पहचानने की कोशिश कर रही थी। उन्होंने अपनी बेटी को देखा। मैंने अपने ही जिस्म में खुद को अजनबी महसूस किया। और उस स्वागत के नीचे, मुस्कुराहटों के नीचे, शालीन सवालों के नीचे, मुझे कुछ और महसूस हुआ। लंदन में मेरे अपनों ने सिर्फ मुझे याद ही नहीं किया था, उन्होंने मुझसे "ठीक" होने की उम्मीद की थी। उनकी चाह थी कि पुराने अंदाज में फिर से वापस आ जाऊं, जिसे मैं पीछे छोड़ आई थी। वे चाहते थे मैं ऐसी दिनचर्या में रम जाऊं कि जैसे मैंने दूसरे देश में पूरी एक भावनात्मक ज़िंदगी न जी हो। मैंने उन्हें दोष नहीं दिया। वो कैसे जान सकते थे। मैं खुद भी अभी खुद को पूरी तरह समझ नहीं पाई थी। बदलाव सिर्फ उसके अंदर जीने वालों को उलझाते नहीं हैं — बाहर से देख रहे हर किसी को अस्थिर कर देते हैं। और ठीक वैसे ही, जैसा कि भारत में हुआ था, चुपचाप, धीरे से, एक और अनकहा एहसास हवा में तैर रहा था:

"तूने नींद खराब कर दी"

यह न मुझ पर आरोप था, न दोष मढ़ा जा रहा था। पर इस मायने में कि मेरी वापसी, मेरा बोझ, मेरी खामोश उलझन ने हर किसी को थोड़ा ज़्यादा सतर्क कर दिया, वे थोड़ा ज़्यादा चिंतित हो गए, और इस कारण रात में वे थोड़ा ज़्यादा जागने लगे। जिसे तब किसी को नहीं पता था, खुद मुझे भी नहीं, कि मैं अपने अनिद्रा के सबसे लंबे दौर में जा चुकी थी।

जीवन संघर्ष: धुंधले वर्ष

ब्रिटेन में वापसी के शुरुआती साल मुश्किल भरे थे। मेरे पति ने खुद को काम में झोंक दिया — एक जाना-पहचाना, तयशुदा, नापा-तुला ठिकाना। एक ऐसी जगह जहाँ मेहनत से नतीजे मिलते थे। जहाँ ठहराव बनाया जा सकता था। जहाँ ज़िम्मेदारी का एक ढाँचा था। और मैंने, हालाँकि तब मैं ये नहीं देख पाई थी, बाद में मैंने भी बिलकुल वैसा ही किया।

मातृत्व ने मुझे निगल लिया। मैंने खुद को निर्धारित दिनचर्या में बाँध लिया। मैंने एक ढाँचा बनाया, क्योंकि बाकी सब कुछ अस्थिर लगता था। बाद में, मैं जान-बूझकर काम पर लौटी — बचने के लिए नहीं, बल्कि टिके रहने के लिए। काम से मुझे अपना दायरा मिला।

काम ने मुझे पहचान दी। काम ने मुझे कुछ ऐसा दिया जो भावनात्मक मौजूदगी या कार्यक्षमता या हालात पर टिका नहीं था। मां बनकर मुझे मकसद मिला। काम ने मुझे साँस दी।

हम एक-दूसरे से दूरी बनाना नहीं चाहते थे। हम अपने-अपने तरीके से टिके रहने का संघर्ष कर रहे थे।

पर, टिके रहने का संघर्ष हमेशा एक कीमत मांगता है। अगर इस पर लगाम न हो तो यह चुपचाप रिश्तों की घनिष्ठता को खा जाता है। इसका कारण आपसी लड़ाई-झगड़ा नहीं, थकान होती है। रिश्तों में जुड़ाव बनाए रखना एक और काम था, जिसके लिए हम दोनों के पास भावनात्मक ताकत नहीं बचती थी। मेरे पास उसके लिए शब्द नहीं थे। मैं उस तरह से थकी होती थी कि नींद से भी आराम नहीं मिलता था।

यह वैसी वाली थकान होती थी, जो हड्डियों में बसती है। जो तुम्हें खुद को दूर से देखने पर मजबूर करती है।

एक ऐसी थकान जो चौकन्ने रहने जैसी लगती है, भले ही कुछ न हो रहा हो।

दो स्थितियों से घिरी - बिखरती मैं

ब्रिटेन वापस आने पर मुझे दो भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रहना पड़ा और दोनों में ही अलग-अलग कारणों से मैं गलत समझी गई।

मेरे माता-पिता को मेरा परिश्रम, प्रयत्न और जीवन में स्थायित्व दिख रहा था। मेरी सक्रियता देख उन्हें लगता था मैं ठीक हूँ। हालांकि मैं भीतर से रोज थोड़ा-थोड़ा टूट रही थी। पर उनसे कह नहीं पाई। डर था कि इसे नाटक, एहसान-फरामोशी या

बेवफाई समझी जा सकती है। दूसरी तरफ, ब्रिटेन आने का ग़म अभी तक बना हुआ था।

अब भी मेरे आस-पास के लोग नुकसान को समझने की कोशिश कर रहे थे। मेरे इर्द-गिर्द भावनाओं का उबाल था। मैं अक्सर उन फैसलों की वजह बना दी जाती, जो मैंने लिए ही नहीं थे। उस भावनात्मक जगह में, मैं एक साथ अदृश्य और बहुत ज़्यादा दिखने वाली थी। तो, मैंने खुद को बाँट लिया। टुकड़ों में बाँट लिया। माता-पिता के सामने मैं कोई और होती थी और हमारे लिए दुखित होने वालों के सामने कोई और। वैवाहिक जीवन में कोई और, दफ़्तर में कोई और। मैं हर माहौल, हर उम्मीद के हिसाब से खुद को ढालना सीख लिया।

टुकड़ों-टुकड़ों में जीना थकाता है। पर जब आप स्वयं को ही पूरे के पूरे नहीं जानते हैं तो, यही जीना सामान्य लगने लगता है।

नुकसान की परछाई

2009 में, मेरी जिंदगी चुपचाप टूट गई। ये किसी घोषणा के साथ नहीं हुआ। ये किसी दिखने वाले निशान के साथ नहीं हुआ।

ये ऐसे नहीं हुआ जिसे उस पल में बाहर कोई पूरी तरह समझ सके। ये अचानक हुआ — एक अस्थानिक गर्भावस्था। एक मेडिकल इमरजेंसी। सिर्फ़ शरीर नहीं टूटा, एक भरोसा भी टूट गया। नुकसान तब अलग तरह से चोट करता है जब ये सालों की भावनात्मक तैयारी के बाद आता है। ये सिर्फ़ एक संभावित बच्चे का नुकसान नहीं है। ये एक कहानी, एक उम्मीद का नुकसान है। एक निजी कल्पना जिसे तुमने सपना देखने की भी इजाज़त नहीं दी थी। तुम्हारी जिंदगी में व्यवहारिक, सामाजिक, भावनात्मक किसी भी रूप में टूट कर बिखरने की जगह नहीं थी। तुम्हारे आस-पास घूम रहे लोग पूर्ववत् अपनी जिंदगी में आगे बढ़ते रहेंगे, क्योंकि उन्होंने वो सपना अपने शरीर में कभी पाला ही नहीं था। पर तुमने पाला था। तुम्हारा शरीर एक खामोश स्मृतियों का भंडार बन जाता है - जिन स्मृतियों को जिंदगी मिल सकती थी।

गम ने एक झटके में मुझे नहीं तोड़ा। मेरे अंदर चुपचाप एक शून्य पैदा हो गया। इस खालीपन का एहसास दर्द से अधिक पीड़ादायक था। आंसुओं से अधिक खालीपन का सन्नाटा याद है। मुझे वो खामोशी याद है जिसमें मैंने खुद को उठाया जैसे खुद को उठाना ही एकमात्र विकल्प बचा हो। 2009 तक आते-आते मज़बूती वो चीज नहीं रही जिसे मैं पाने की कोशिश करती थी। अब वह खुद मेरे पास चली आती थी। खुद से पूछने का अवसर मिलने से पहले कि मैं ठीक होने लायक हूँ या नहीं, मैं पहले से ही ठीक होने का नाटक कर रही थी। यही होता है जब सहना ही तुम्हारी पहचान बन जाती है: तुम स्वभाव से हिम्मती हो ही नहीं सकती। तुम्हारा शरीर हिम्मत देता है और ज़िंदगी अपने तरीके से आगे बढ़ती रहती है, भले ही तुम्हारा दिल उदास हो।

एक और शुरुआत — उम्मीद आशंकाओं के घेरे में

2010 में, मैं फिर से गर्भवती थी। पर इस बार एहसास सीधी-सादी खुशी नहीं थी। तह-दर-तह कई भावनाएं।

राहत डर के बगल में रहती थी। उम्मीद सावधानी के बगल में रहती थी। खुशी गम के बगल में रहती थी। नुकसान के बाद का गर्भ मासूम नहीं होता। तुम यादों को अपने खून में लेकर चलती हो। तुम वक्त को अलग तरह से नापती हो। तुम अपने शरीर को चौकन्ना होकर सुनती हो। तुम खबर के लिए तैयार रहती हो, तब भी जब तुम पल पर भरोसा करना चाहती हो। प्यार होता है, पर ये धीरे से थामा जाता है — किसी अनमोल चीज़ की तरह जिसे कसकर पकड़ने से डर लगता है। मैंने वो गर्भ खामोशी से उठाया। हिफ़ाज़त से।

सावधानी से। मैंने ज़ोर से जश्न नहीं मनाया। मैं दिमागी तौर पर आगे नहीं भागी। मैंने खुद को थामे रखा। जब मेरा दूसरा बेटा पैदा हुआ, तो राहत थी — वो गहरी, सीना हिला देने वाली राहत जो तुम्हारे फेफड़ों में दर्द करती है जब तुम आखिरकार फिर से साँस लेती हो। मेरे बेटे मेरी उस ज़िंदगी में लंगर बन गए जहाँ बाकी सब कुछ अनिश्चित लगता था। पर यहाँ एक सच है जो मैं नहीं भूलती: बच्चे आ जाते हैं,

पर अनसुलझा ट्रॉमा सिर्फ इसलिए गायब नहीं होता क्योंकि एक नई जिंदगी दुनिया में आती है। मातृत्व ने हर उस चीज़ को और गहरा कर दिया जिसे मैं नज़रअंदाज़ कर रही थी। थकान गहरी हुई।

अकेलापन और धारदार हुआ। भावनात्मक फासले बढ़ गए। शादी में दरारें ज़्यादा दिखने लगीं — इसलिए नहीं कि कुछ नया हुआ था, बल्कि इसलिए कि मातृत्व ने वो जगह छीन ली थी जिसका इस्तेमाल मैं अपनी ही सच्चाई से छुपने के लिए करती थी। प्यार था। पर, कमी भी थी। और प्यार उस कमी को ठीक नहीं कर सकता जब तुम जिससे प्यार कर रही हो वो कोशिश में ही गायब हो रहा हो।

जुलाई 2010 — जब हकीकत ने शक्ति बदली

कुछ पल जोर से नहीं टूटते। वो तुम्हें साफ़-साफ़ तोड़ते हैं। जुलाई 2010 तक, मेरी जिंदगी में स्पष्टता पानी की तरह दीवार में रिसने लगी — धीमी, बेरहम, नज़रअंदाज़ करना नामुमकिन। कुछ चीज़ें थीं जो मैं उस दौर में समझ पाईं जिनका ज़िक्र मैं यहाँ नहीं करूँगी। डर से नहीं। वफ़ादारी से नहीं। शर्म से नहीं।

पर इसलिए क्योंकि ये किताब किसी और को बेनकाब करने के बारे में नहीं है। ये भीतर के हिसाब-किताब की खामोश हिंसा के बारे में है, उस पल के बारे में जब एक औरत को एहसास होता है कि जिस दुनिया में वो जी रही थी वो दरारों पर बनी थी। और उस पल में, मुझे उस वाक्य का मतलब महसूस हुआ जो किसी ने कभी मेरे मुँह पर नहीं कहा, पर मैंने इसे अपने आस-पास के बर्ताव में तुरंत पहचान लिया:

"तूने नींद खराब कर दी"

तूने सुकून में खलल डाला। तूने घर का चैन बिगाड़ दिया। तूने वो तोड़ा जो कभी तोड़ने के लिए तेरा था ही नहीं।

जबकि सच इसका उल्टा था। मैं वो नहीं थी जिसने कुछ बिगाड़ा। मैं वो थी जो किसी और के फ़ैसलों के नतीजे झेल रही थी। मैं वो थी जिसकी नींद उड़ रही थी। मैं वो थी जो बोझ उठा रही थी।

मैं वो थी जो एक ऐसा सुकून बचाने के लिए खुद को बार-बार बदल रही थी जो मैंने बिगाड़ा ही नहीं था। जिसे मैंने तनाव का नाम दिया था वो दरअसल घिसाव था। जिसे मैंने सांस्कृतिक फ़र्क कहकर समझाया था वो भावनात्मक दूरी थी। जिसे मैंने तालमेल कहा था वो खुद को मिटाना था। एहसास हमेशा एक पल में नहीं होता। कभी-कभी ये सैकड़ों छोटी-छोटी बातों से बनता है जो अचानक जुड़कर कुछ ऐसा बन जाती हैं जिसे नकारा नहीं जा सकता। जुलाई 2010 मेरे लिए वही था। नज़रिया इतना साफ़ हुआ कि सच ने मेरे अंदर जगह बना ली। इतनी तेज़ी से कि सच ने मुझे हिला दिया। पहली बार, मैंने ये पूछना बंद कर दिया:

मैं इसे कैसे ठीक करूँ?

मैं बेहतर तालमेल कैसे करूँ?

मैं खुद को प्यार करने लायक कैसे बनाऊँ?

और मैंने वो सवाल पूछना शुरू किया जो मेरा शरीर सालों से फुसफुसा रहा था:

मैं क्या स्वीकार कर रही हूँ जो मुझे तोड़ रहा है?

ये कोई धमकी नहीं थी।

ये कोई योजना नहीं थी।

ये कोई बाहर निकलने का रास्ता नहीं था।

ये पहचान थी।

खामोश।

भारी।

ज़मीन से जोड़ने वाली।

पहचान एक ऐसा बदलाव है जिसे पलटा नहीं जा सकता। तुम्हारी चेतना तुम्हारे लिए झूठ बोलना बंद कर देती है। तुम्हारा दिमाग सच को हल्का करना बंद कर देता है। तुम्हारा दिल चोट को नरम करना बंद कर देता है। और तुम्हारा अंतर्मन एक ऐसे यकीन के साथ आगे बढ़ता है जिससे तुम अब भाग नहीं सकती: ये शादी मुझे से खुद के उन टुकड़ों की कीमत चुका रही है जिन्हें मैं शायद कभी वापस न पा सकूँ।

वो पहचान कोई ख्याली बात नहीं थी। वो उन सचाइयों के साथ आई जिन्हें मेरा शरीर अब नज़रअंदाज़ नहीं कर सकता था। मैंने जाना कि मेरी शादी वो नहीं थी जो मैं मानती थी, और उसी वक़्त, मैंने जाना कि मैं आपने गर्भ में एक बच्चा भी पाल रही थी। मैं घर जाना चाहती थी। मुझे उतरने के लिए कोई महफूज़ जगह चाहिए थी। पर कहीं जगह नहीं थी। मेरे माँ-बाप ने मुझे वापस लेने से मना कर दिया, ये मानते हुए कि सहन करना ही सही जवाब है। और इसलिए, मैं रुकी रही, इसलिए नहीं कि मुझे दरार नहीं दिखी, बल्कि इसलिए कि हर बाहर निकलने का रास्ता बंद था। मैंने जुलाई 2010 में कोई फ़ैसला नहीं लिया।

लेकिन कोई आधारभूत सत्य फट कर सामने आ गया।

बीज बोया जा चुका था।

भ्रम टूट चुका था।

सच सतह पर आ चुका था और सच कभी वापस ज़मीन के नीचे नहीं जाता।

एक अंत की शुरुआत — खामोश, धीमी, तय

बाहर से कुछ नहीं बदला। मैंने बैग नहीं पैके किया। वैवाहिक रिश्ते को लेकर आखिरी चेतावनी नहीं दी।

पर भीतर, सब कुछ बदल गया।

एक बार जब तुम दरार देख लो, तो उसे अनदेखा नहीं कर सकती। तुम उस पर रंग पोत सकती हो, उसे किरदार कह सकती हो, रोशनी के कोण को दोष दे सकती हो — पर तुम फिर भी जानती हो कि वो वहाँ है। मैं सिर्फ थकी हुई नहीं थी। मैं खाली हो चुकी थी। मैं सिर्फ परेशान नहीं थी।

मैं घिस चुकी थी। मैं सिर्फ तनाव में नहीं थी। मैं ग़म में थी — एक ऐसी शादी का ग़म जो दैनिक जीवन में तो थी पर रिश्ते में नहीं थी। खुद का ग़म जिसे मैंने सालों की भावनात्मक मेहनत में कहीं खो दिया था, पर जिसे किसी ने माना ही नहीं।

उस शोक के सन्नाटे में औरतों पर यह आरोप मढ़ा जाता है, जिसे औरतें निगलना सीख जाती हैं: यदि घर में शांति टूटी है, तो इसका कारण यकीनन तुम्हीं हो।

तूने नींद खराब कर दी।

पर मैं सच पहले से जानती थी — भले ही मैं उसे अभी बोल नहीं पा रही थी:

मैं सुकून बिगाड़ने वाली नहीं थी।

मैं उसकी गड़बड़ी की कीमत चुकाने वाली थी।

वो जागरूकता जो आगे की हर चीज़ को आकार देती है

अध्याय तीन एक्शन से खत्म नहीं होता। ये जागरूकता से खत्म होता है।

वो जागरूकता कि मेरे अंदर कुछ ज़रूरी टूट चुका था।

वो जागरूकता कि यदि अपनी ताकत का बहुत देर तक उपयोग नहीं करोगे, तो लचीलापन नहीं रहता और खुद को परिस्थितियों पर छोड़ देना बन जाता है।

वो जागरूकता कि सहना घनिष्ठता नहीं है।

वो जागरूकता कि बस टिके रहना ज़िंदगी नहीं है।

और वो जागरूकता कि वो वाक्य जो किसी ने ज़ोर से नहीं कहा था, वो पहले से ही मुझे गढ़ रहा था:

तूने नींद खराब कर दी।

इसलिए नहीं कि मैंने कुछ गलत किया था।

बल्कि इसलिए कि दुनिया के लिए ये आसान था कि सारी गड़बड़ी का बोझ उस औरत पर डाल दे जो चुप रही।

वो जागरूकता आगे आने वाले हर फैसले की रीढ़ बन गई — सालों बाद, और टूटने के बाद, और जागने के बाद, और बे-नींदी के बाद। पहचान 2010 में आई। बाकी की कहानी उसी की वजह से खुली।

अध्याय 4

लंबा बीच का वक्त

शे मेरा छोटा बेटा मेरी गोद में आया — नन्हा, पूरी तरह स्वस्थ, पूरी तरह मुझ पर निर्भर। और कुछ समय के लिए, वो घर में सिर्फ प्यार ही नहीं लाया।

वो एक नियम लाया। एक तयशुदा दिनचर्या।

जब सब डगमगा रहा था, वो आगे बढ़ने की वजह बन गया।

बच्चे यही करते हैं। वो वक्त को ज़रूरी बना देते हैं। वो तुम्हारी गोद इतनी पूरी भर देते हैं कि तुम्हारे पास ठीक से टूटने की शारीरिक जगह ही नहीं बचती। मुझे वो शांत पल याद हैं — मेरे सीने पर उसका हल्का सा वजन, उसकी साँसों की एक-सी लय, नवजात की खुशबू की पवित्रता। उन पलों में, चुपचाप मेरे भीतर एक संकल्प बना:

अगर मैं बस उस पर ध्यान दूँ, तो मैं ठीक रहूँगी। खुश नहीं। पूरी नहीं। संतुष्ट नहीं। बस... ठीक-ठाक। और यही जाल है, है न? "ठीक-ठाक" एक जीने का तरीका बन जाता है। एक बहाना। खुद को संभालने का तरीका। एक स्थायी हालत।

खुद को सीधा खड़े रखने का एक तरीका यह कहते हुए कि तुम बस टिके हुए हो। मेरे पास टूटने का एक बड़ा नाटकीय पल नहीं था।

मेरे पास टूटने के हज़ार छोटे-छोटे पल थे — दूरी, खामोशी, दिखावा, दबाव। उन दिनों ऐसा लग रहा था कि मेरे आस-पास जो घट रहा था वही ज़िंदगी है, मगर उसमें मैं कहीं नहीं थी। यह वही अध्याय है।

लंबा बीच का वक्त। वो अध्याय जहाँ कुछ भी "होता" नहीं है, और फिर भी सब कुछ बदल जाता है।

मातृत्व का मुखौटा

मातृत्व ने मुझे एक उद्देश्य दिया। उसने मुझे बचने की जगह भी दी। जब आपके दो छोटे बच्चे होते हैं तो कोई नहीं पूछता कि आप थकी हुई क्यों हैं। कोई नहीं पूछता कि आप लोगों की नज़रों से क्यों बच रही हैं। कोई नहीं देखता कि आपकी चमक फीकी पड़ रही है। वे इसे सामान्य कहते हैं।

वे इसे दीर कहते हैं। वे इसे मातृत्व कहते हैं। और हाँ, मातृत्व थका देने वाला है। खूबसूरत, लगातार, ज़मीन से जोड़ने वाला, हृद से ज़्यादा भी। पर मेरी थकान सिर्फ़ डायपर बदलने, टूटी नौद, स्कूल छोड़ने, कपड़े धोने और सोचने भर के लिए कभी न बैठ पाने की नहीं थी। वह थकान थी बिना कहीं रखे हुए सारा भावनात्मक बोझ उठाने की। वो ज़िम्मेदारी थी पूरे घर के मिज़ाज की, हवा में तने तनाव की, सब कुछ थामे रखने की — ताकि कोई मुझे देखे तो यह न सोचे:

तूने नौद खराब कर दी

तुमने शांति भंग की। तुमने सुकून खराब किया। किसी ने यह कहा नहीं। मगर औरतों को चुप्पी में भी यह सुनना सिखाया जाता है। इसलिए मैं चलती रही। मैंने सब उठाया। मेरा भगवान साक्षी है मैंने सब उठाया.....बच्चे, दिनचर्या, खाना, मिज़ाज, अनकहा तनाव और अपनी पीठ पर खामोशी का बोझ। कहीं रास्ते में, मैंने शांति को चुप्पी समझ लिया। पर चुप्पी शांति नहीं है। चुप्पी वह सब है जो अनकहा है। ताकत खतरनाक हो जाती है जब वो तुम्हारे जीने का इकलौता तरीका हो। जब "मज़बूत" का मतलब हो:

तुम नहीं माँगती।

तुम्हें ज़रूरत नहीं।

तुम लड़खड़ाती नहीं।

तुम आराम नहीं करती।

तुम टूटती नहीं।

तुम बस... जिम्मेदारियाँ उठाती हो।

और मैंने उठाई ।

भरे घर में अकेलापन

अकेलापन लोगों का साथ न होना नहीं है, यह जुड़ाव का न होना है। रोज़ किसी के बगल में बैठना और फिर भी भीतर से अकेला महसूस करना अकेलापन है। अकेलापन यह भी है कि एक छत के नीचे रहने के बावजूद साथ न होने का एहसास हो। मेरा अकेलापन सभ्य था। शांत।

सलीकेदार, कोई शोर नहीं। यह उन रातों में धीरे से आ जाता, जब बच्चे आखिरकार सो जाते और घर खामोश हो जाता।

ये वो घड़ियाँ थीं जब खामोशी इतनी तेज़ हो जाती कि मेरा शरीर बेचैन हो उठता। मुझे नींद ठीक से आनी बंद हो गई।

नाटकीय तौर पर नहीं। बस धीरे-धीरे — दिमाग बहुत चौकन्ना, दिल बहुत बेचैन, नसें बहुत तनी हुई, क्योंकि दिन भर सब कुछ संभालना पड़ता था। मैं किसी के बगल में लेटी रहती, बस कुछ इंच की दूरी पर, फिर भी लगता जैसे इस पूरी दुनिया में सिर्फ मैं ही जाग रही हूँ। और उस नींद न आने में, एक और ख्याल धीरे से आ जाता — बिना कहे, पर जाना-पहचाना:

शायद मैं ही बाधा हूँ।

शायद मैं ही शांति भंग कर रही हूँ।

तूने नींद खराब कर दी

इसलिए नहीं कि किसी ने कहा। बल्कि इसलिए कि अकेलापन तुम्हें उस खालीपन के लिए खुद को दोष देने पर मजबूर कर देता है, जिसे किसी और ने पैदा किया है।

यह अजीब पलों में उभर आता — कार में कोई गाना, फिल्म की एक लाइन, कोई याद जो बिना बुलाए तैर कर आ जाए। मेरा दिल बिना वजहें व्याकुल हो जाता। मेरा सब्र कम होने लगा। आँसू चुपचाप आ जाते — टूटकर रोने से नहीं, बल्कि छोटी-छोटी दूरारों से जो मेरा शरीर अब और रोक नहीं पाता था। मेरे जज़्बात टेढ़े-मेढ़े बहने लगे, क्योंकि मेरे पास उन्हें सीधे रखने की कोई महफूज़ जगह नहीं थी। पर बाहर से? मैं "ठीक" थी। और यही बात लोग लंबी शादी वाली औरतों के बारे में नहीं समझते: हम जोर से नहीं टूटतीं। हम चुपचाप फीकी पड़ती हैं। हम कोशिश छोड़ने से बहुत पहले सोना छोड़ देती हैं।

ठीक दिखने की कला

औरत होने का एक रूप ऐसा भी है जो बाहर से बेदाग लगता है। एक सधी हुई मुस्कान। एक सजा-संवरा घर।

बच्चे खुश दिखते हैं। वैवाहिक जीवन आदर्श लगता है। बाहर से लोग इसे ताकत कहते हैं, ताकि शक न हो। अंदर से, ये एक नाटक है। मैं इस नाटक में माहिर हो गई। मुझे पता था बोलने से पहले लहज़ा कैसे नरम करना है। कैसे शब्दों को निगल जाना है इससे पहले कि वे झगड़े का कारण बनें। खुद के उन हिस्सों को कैसे धुंधला करना है जिनसे दूसरों को असहजता होती थी। जो दिखता है, उसे ही सबूत माना जाता है। अगर मैं ठीक से काम कर रही थी, तो शादी ठीक होगी। अगर मैं संभली हुई दिख रही थी, तो घर में शांति होगी। अगर मैं टूट नहीं रही थी, तो इसका मतलब कुछ भी "गलत" नहीं था। पर स्थिरता का नाटक करना भी एक तरह का धीमा-धीमा मिटना है। सत्य यह है कि हर मुस्कान सच्ची नहीं थी।

हर खामोशी इच्छा से नहीं थी। हर "मैं ठीक हूँ" असल में "मैं थक चुकी हूँ" था। मेरे जैसी औरतें अचानक नहीं ढहतीं। हम एक-एक समझौते के साथ गायब होती हैं। और इन सबके नीचे एक सच्चाई थी जो मैं अकेले ढो रही थी:

मैं "शांति बना नहीं रही थी"। मैं इसका पूरा बोझ उठा रही थी।

और किसी ने देखा नहीं क्योंकि मैंने अपना किरदार बहुत अच्छे से निभाया।

मैंने खुद को मिटाने में साथ दिया।

इसलिए नहीं कि मुझमें हिम्मत नहीं थी — बल्कि इसलिए कि सांस्कृतिक, भावनात्मक, और पीढ़ी-दर-पीढ़ी मुझे यही सिखाया गया था:

तुम्हारी ज़रूरतें समझाते लायक हैं।

बाकी सबकी शांति नहीं। और चुपचाप, उन सारी उम्मीदों के नीचे, वो भावना दबी थी जिसने मुझे सालों तक बंधक बनाकर रखा:

"तूने नींद खराब कर दी"

वजह मत बनो कि माहौल बिगड़े।

वो मत बनो जो सुकून तोड़े।

वो औरत मत बनो जो "टूट जाती" है।

तो, मैंने शांति का भ्रम बनाए रखने के लिए दोगुनी मेहनत की। इस चक्कर में अपनी ही भीतरी शांति खोती गई। लंबा बीच का वक्त तुम्हें जोर से नहीं तोड़ता। यह तुम्हें चुपचाप, धीरे-धीरे तोड़ता है, जब तक कि एक दिन तुम इधर-उधर देखती हो और समझ जाती हो

बाहर से स्थिर दिखने वाली तुम्हारी ज़िंदगी भीतर से तुम्हारी पहचान में नहीं आती।

मौन सच

मेरे पास कोई योजना नहीं थी। मेरे पास कोई समय-सीमा नहीं थी। मेरे पास तो उन भावनाओं के लिए शब्द भी नहीं थे जो मैं महसूस कर रही थी।

मेरे पास जो था वह एक बढ़ती हुई समझ थी — खामोश, स्थिर, नकार न पाने लायक।

कुछ ठीक नहीं था।

कुछ टिकाऊ नहीं था। कुछ मुझे भीतर से खोखला कर रहा था।

मेरे आस-पास के लोग इसे अब भी एक सामान्य शादी में कह सकते थे। पर मैं अपनी नींदहीन रातों के एकांत में कुछ समझने लगी थी:

"सामान्य" का मतलब शांतिपूर्ण नहीं था।

सामान्य का मतलब प्यार भरा नहीं था। सामान्य का मतलब समझा जाना नहीं था। और जितना मैं सब कुछ संभाले रखती, उतना ही मैं खुद के टुकड़े खोती जाती। लंबे बीच के वक्त के अंत तक, मैं टूट नहीं रही थी। मैं गायब हो रही थी। और कहीं भीतर, उस घिसाव में — उस नींदहीनता में, उस खुद के प्रति लापरवाह होने में, उस खामोश दर्द में — उस वाक्य का भावनात्मक मतलब आखिरकार आकार लेने लगा:

मैं शांति तोड़ने वाली नहीं थी। मैं शांति बनाए रखने की कीमत सहने वाली थी।

जब एक औरत गायब होने लगती है

ऐसी शादी के भीतर एक खास तरह की खामोशी होती है जो रातोंरात नहीं आती। यह इकट्ठा होती है। यह जमती है।

यह घर के फर्नीचर का हिस्सा बन जाती है। यानी इसकी उपस्थिति तो है, पर जरूरत किसी को नहीं। और पता भी नहीं चलता, कब तुम कम बोलने लगती हो, कम हँसने लगती हो, कम माँगने लगती हो, कम उम्मीद करने लगती हो। तुम खुद का एक शांत संस्करण बन जाती हो — अपनी मर्जी से नहीं, बल्कि इसलिए क्योंकि अब इस घर में तुम्हारी आवाज़ का स्वागत नहीं होता।

मुझे चुप रहने का आदेश नहीं मिला था। मुझे खुद को व्यक्त करने से रोका नहीं गया था। यह सब बहुत सूक्ष्म था। यह बस इतना था कि भावनात्मक बातचीत कभी मंज़िल तक पहुँचती ही नहीं थी।

मेरी भावनाएँ जुड़ाव नहीं, बेचैनी पैदा करती थीं। कोई भी भारी बात पुल नहीं बनती थी, बोझ बन जाती थी। और इन सबके बीच एक अनकहा संदेश मेरे भीतर गहराई तक उतर गया था:

शांति भंग मत करो।

समस्या मत बनो।

तूने नींद खराब कर दी।

रात-भर मैं ही जागती थी। नींद मैं ही गँवाती थी। सीने में चिंता मैं ही दबाए रखती थी। और फिर भी मैं ही सिकुड़ रही थी — इस डर से कि कहीं मेरा सच हालात को और न बिगाड़ दे।

इसलिए मैंने खुद को कम कर लिया। बाहर से नहीं। नाटकीय ढंग से नहीं। बस चुपके से। जो ज़रूरतें कभी मेरी हुआ करती थीं, अब उन्हें सही ठहराना पड़ता था। मेरे व्यक्तित्व के कुछ हिस्से धुंधले पड़ गए, क्योंकि उनके जज़्बात के लिए कोई जगह नहीं बची थी।

गायब हो जाने की यही खूबी है — यह खामोश होता है। कारगर होता है। लगभग खूबसूरत लगता है। एक दिन आईने में देखो तो अपना चेहरा पहचान लोगी — पर उस चेहरे के पीछे जी रही औरत को नहीं।

सब कुछ थामे रखने का बोझ

ये वो साल थे जब हर दिन मुझसे उससे ज़्यादा माँग रहा था जितना मेरे पास था। मातृत्व रुका नहीं।

शादी आसान नहीं हुई। जिंदगी नरम नहीं पड़ी। हर ज़िम्मेदारी की धार तेज़ हो गई। मैं घर की सूत्रधार बन गई। देखभाल करने वाली। समय की पाबंद। इंतज़ाम संभालने वाली। खाना बनाने वाली। घर की भावनाओं की ढाल।

सुलह करवाने वाली। घर का बजट संभालने वाली। सबका हौसला बढ़ाने वाली। घर में शांति बनाए रखने वाली। एक अकेली औरत — पूरा दफ्तर। सब कुछ सही चलता रहे, ये मेरी जिम्मेदारी थी।

और जब तुम ही सब कुछ चलाती हो, तो तुम्हारे बिखरने पर किसी की नज़र नहीं जाती।

मैंने कपड़े धोए, इस्त्री किए। खाना वक़्त पर बनाया। घर का माहौल हल्का रखा — क्योंकि सबके मूड को ठीक रखना भी मेरे ही हिस्से आ गया था। और इन सबके नीचे वो खामोश सी सज़ा थी जो हर औरत जानती है: अगर घर में क्लेश है, तो कुसूर तुम्हारा है। तुमने ही सबकी नींद खराब की। तो मैंने खुद को समेट लिया। कम बोली। ज़्यादा समझदार बनी। हर हाल में ढल गई। मैं ठीक दिखती रही ताकि बाकी सब चैन से रहें। बाहर से मैं चल रही थी... भीतर ही भीतर टूट रही थी।

बच्चों ने रास्ता दिखाया

मेरे बेटे मेरी दुनिया बन गए — ज़िंदगी का वो एक कोना जो साफ था, सच्चा था। उनकी हँसी से मुझे याद आया कि खुशी कैसी होती है। उन्हें मेरी ज़रूरत थी, और इसी से मुझे जीने की वजह मिली। उनका छूना, उनका लिपटना — वही मेरा सहारा था।

पर एक बात मैं तब नहीं मान पाई: मैं माँ बनने के पीछे छिप गई थी। माँ होना मेरा कवच बन गया, मेरा कमरा, मेरी पनाह। शादी में जो दरारें बढ़ रही थीं, उनसे बचने का रास्ता।

जब तक बच्चों का काम रहता, मुझे अपने बारे में सोचना नहीं पड़ता। जब तक दिन भर भागती रहती, अकेलापन महसूस नहीं होता। लोग मुझे अच्छी माँ कहते, और एक औरत के तौर पर मुझसे कोई सवाल नहीं करता। मैंने माँ के रोल को ओढ़ लिया। कवच बचाता तो है — पर वज़न भी देता है। जब तक बेटे बड़े हुए, मैं भूल ही गई कि इस रोल के बाहर मैं कौन हूँ। मैं सिर्फ़ थकी नहीं थी।

मैं उजड़ चुकी थी। एक ऐसी औरत जो दूसरों की शांति बचाते-बचाते अपनी शांति गँवा बैठी।

शरीर सबसे पहले बता देता है

दिमाग चाहे कितना भी नकारे, शरीर झूठ नहीं बोलता। मेरा शरीर मुझे बहुत पहले से इशारे दे रहा था, पर मैं तब समझी ही नहीं:

शरीर में एक जकड़न-सी मेहसूस होती थी | सुबह उठते ही मन भारी लगता। अचानक सिर फटने लगता। थकान ऐसी कि सोकर भी न उतरे।

आँखें बेवजह भर आतीं। छोटी-छोटी बात पर गुस्सा आ जाता। भीतर एक खालीपन सा चुभता, जैसे मन का कुछ अधूरा हो। लगता जैसे मैं अपनी ही ज़िंदगी से बाहर खड़ी हूँ। मैं खुद को समझाती रही — तनाव होगा, बच्चों की वजह से, हार्मोन का खेल होगा, नींद पूरी नहीं हुई। मगर असल बात सीधी थी:

मैं एक शादी को पीठ पर लादे चल रही थी और सबको दिखा रही थी कि कुछ वज़न ही नहीं है। मेरी नींद रात-दर-रात चुपचाप कम हो रही थी। इसलिए नहीं कि मैं परेशानी खड़ी कर रही थी, बल्कि इसलिए कि मैं वो सब चुपचाप पी रही थी जिसका नाम तक मैं नहीं ले पा रही थी।

यही वो कड़वा सच है जो हर औरत किसी न किसी खामोश लहजे में सुनती है:

तूने नींद खराब कर दी

पर मेरे शरीर को सच पहले से पता था। वो बोल रहा था, मैं सुनने को तैयार नहीं थी। उसने सालों तक धीरे-धीरे कहा, तब जाकर मैंने सुना।

भीतर से टूटना शुरू होता है

लोग मानते हैं कि अलगाव तलाक की बात से, किसी झगड़े से शुरू होता है। पर दिल का अलगाव तो चुपचाप शुरू हो जाता है — जुबान से लफ़्ज़ निकलने से बरसों पहले। वो उस दिन शुरू होता है जिस दिन तुम रिश्ते से राहत पाने की उम्मीद

छोड़ देती हो। उस दिन जब तुम सामने वाले की तरफ हाथ बढ़ाना बंद कर देती हो। उस दिन जब तुम उसके साथ अपना कल सोचना छोड़ देती हो। उस दिन जब "हम" धीरे से "मैं" में बदल जाता है। मेरा अलगाव शे के आने से पहले ही शुरू हो गया था — बस तब मैं समझ नहीं पाई। वो तब शुरू हुआ जब निराश होना रोज़ की बात बन गई थी, कोई हादसा नहीं। उन रातों में जब मैं तकिये में मुँह देकर रोई ताकि कोई पूछे नहीं। उन सुबहों में जब मैं खुद को जबरदस्ती इकट्ठा करके दिन में उतरती थी। वो उन सालों में शुरू हुआ जब शादी प्यार का रिश्ता न रहकर सिर्फ एक ज़िम्मेदारी बनकर रह गई थी।

यह तब शुरू हुआ जब मुझे अपने ही घर के बजाय कार में अकेले बैठकर ज़्यादा सुकून मिला। और इन सबके नीचे एक खामोश, भीतरी शर्मिंदगी थी — ये मानना कि मेरी उदासी ही समस्या है, कि अगर माहौल भारी है तो कहीं न कहीं गलती मेरी ही है।

वो अनदेखा इल्ज़ाम जिसे हर देसी औरत बहुत अच्छे से जानती है:

"तूने नींद खराब कर दी"

तुमने शांति भंग की।

तुमने बेचैनी पैदा की।

तुमने असंतुलन लाया।

पर सच इससे सीधा था: मैं कुछ बिगाड़ नहीं रही थी। मैं बस बच रही थी। मैंने 2010 में अपनी शादी नहीं छोड़ी थी।

पर जो लड़की उस शादी में गई थी, वह कब की हाथ से छूट चुकी है।

"बच्चों के लिए रुकने" का झूठ

जब औरतें दुखी वैवाहिक जीवन में रुकती हैं, तो लोग कहते हैं:

"ऐसा बच्चों के लिए है"।

पर बाद में मैंने जो सच जाना वह यह है: बच्चों को एकदम व्यवस्थित घर नहीं चाहिए बल्कि उन्हें ऐसे माँ-बाप चाहिए जो भावनात्मक तौर पर उनके साथ मौजूद हों। वे हमसे वो नहीं सीखते जो हम कहते हैं, बल्कि वे सीखते हैं जो हम चुपचाप सह लेते हैं। तब मैं सच में मानती थी कि मैं सही कर रही हूँ। मैं मानती थी कि सच्चाई से ज्यादा ज़रूरी स्थिरता है। मैं मानती थी कि जुड़ाव से ज्यादा ज़रूरी ढाँचा है। मैं मानती थी कि टूटने से ज्यादा सुरक्षित चुप रहना है। मैं मानती थी कि परिवार को साथ रखने का मतलब है खुद को संभाले रखना, भले ही मैं भीतर से चुपचाप बिखर रही हूँ। मैं सोचती थी मैं उन्हें संभाल रही हूँ, पर मैं खुद मिटती जा रही थी। और यह बात जिसे लोग कम ही मानते हैं:

बच्चे सब कुछ महसूस करते हैं। वे महसूस करते हैं जब एक माँ खामोश हो जाती है।

वो भावनात्मक खालीपन को महसूस करते हैं।

वे वो दुख महसूस कर लेते हैं जो कहा नहीं जाता। वे हवा में तनाव महसूस करते हैं। वे तुम्हारे शरीर का भारीपन तब महसूस कर लेते हैं जब तुमने उसे कोई नाम तक नहीं दिया होता। और उन सालों में, मेरे मन में एक और अनकहा डर था — वही जो बहुत सी औरतों को सताता है:

अगर मैं चली जाऊँ, तो क्या दुनिया कहेगी कि मैंने ही सब बर्बाद कर दिया?

क्या वे फुसफुसाएँगे,

"तूने नींद खराब कर दी"

तुमने घर तोड़ा।

तुमने खलल डाला।

इस बीच, मैं रात-रात भर जागती थी, चुपचाप नींद गँवा रही थी, एक ऐसे ढाँचे को संभाले हुए जो पहले से ही गिर रहा था। तब मुझे इस सबका पता नहीं था। मैं बस बचकर रहना जानती थी।

पहचान का खोना — सबसे खामोश दुख

तुम एक सुबह उठकर ये नहीं समझते कि तुमने खुद को खो दिया है। ये धीरे-धीरे होता है। जब तुम अपनी पसंद की चीज़ें चुनना बंद कर देती हो। जब तुम्हारी अपनी राय होना बंद हो जाती है। जब तुम अपने लिए सजना-संवरना छोड़ देती हो।

जब तुम सपने देखना बंद कर देती हो। जब तुम्हें याद ही नहीं रहता कि तुम्हें तुम क्या बनाता है। जब तुम्हारी ज़िंदगी खुद को पूरा रखने के बजाय, बाकी सबको संभालने के बारे में हो जाती है। मैं दिखती तो मैं ही थी। आवाज़ भी मेरी जैसी थी।

मैं बाहर से बिल्कुल अपनी तरह चलती थी। पर भीतर, मैं उस औरत की धुंधली सी परछाईं भर रह गई थी जो कभी हुआ करती थी। मैं टूटी नहीं थी।

मैं खामोश कर दी गई थी। और खामोश औरतें नाटकीय ढंग से नहीं जातीं। खामोश औरतें अपनी ही पुरानी परछाईं बनकर ज़िंदगी में चलती हैं — इस उम्मीद में कि कोई उनके पूरी तरह मिटने से पहले उनका धुंधला होना देख ले। पर किसी ने नहीं देखा। इसलिए नहीं कि उन्हें परवाह नहीं थी, बल्कि इसलिए कि मैंने "सब ठीक है" का नाटक बहुत अच्छे से कर लिया था।

इतनी सफाई से कि किसी ने सोचा ही नहीं। मैं मज़बूत थी। क्योंकि मैं काबिल थी।

क्योंकि मैंने कभी कोई काम नहीं बिगड़ने दिया। सिवाय खुद के।

और उस खामोश मिटने के नीचे सालों से ये बातें दबी थीं:

लहरों की तरह मत बनो। सब गड़बड़ मत करो।

तूने नींद खराब कर दी

एक वाक्य जो कभी बोला नहीं गया, पर मेरे चारों तरफ मौजूद था।

खोना — वह लंबा ठहराव

उस लंबे दौर के आखिर तक,

कोई आखिरी चेतावनी नहीं थी। कोई ऐसा कदम नहीं था जो बाहर वालों को समझ आता।

पर भीतर कुछ चुपचाप खत्म हो चुका था। मैं लगभग हर चीज़ सह रही थी। और ऐसा करते-करते मैं अपनी ही ज़िंदगी के अंदर से गायब हो गई।

मैं चल रही थी। अब भी संभाल रही थी, सुलझा रही थी, सब सोख रही थी। मैं वो औरत दिखती थी जो ऊपर से ठीक लगती है। मेरा "ठीक हूँ" अब नाटक नहीं, आदत बन गया था। मुझसे "मैं" छूट रही थी।

मैं कोई योजना नहीं बना रही थी।

मैं निकलने के रास्ते नहीं ढूँढ रही थी।

मैं बस ये देख रही थी कि सब सहते-सहते मेरा क्या हाल हो रहा है।

हर चीज़ को शांत बनाए रखने में कितनी ताकत लगती है।

कितनी बार मेरी ज़रूरतें सबसे आखिर में आती हैं।

कि कैसे खामोशी अब पसंद नहीं, मजबूरी बन गई थी।

कि कैसे ताकत, जो बार-बार माँगी गई, अब हिम्मत नहीं रही, मिटना शुरू हो गई थी।

ये वो हिस्सा नहीं था जहाँ मैंने छोड़ा।

ये वो हिस्सा था जहाँ टिके रहना इतना महंगा पड़ने लगा था कि बिना कीमत चुकाए अब और नहीं ढोया जा सकता था।

सब सहने के नीचे, सब बदलने के नीचे, सब चुपचाप मेहनत के नीचे, एक सच मेरे अंदर बस गया था:

मैं शादी में नाकाम नहीं हो रही थी।

मैं कुछ ऐसा झेल रही थी जो धीरे-धीरे मुझे ही मुझसे छीन रहा था।

चौथा अध्याय यहाँ खत्म होता है — किसी कदम से नहीं, और न किसी साफ समझ से —

बल्कि बहुत ज़्यादा, बहुत लंबे समय तक ढोते रहने के नतीजे से।

और जब शरीर को समझ में आने लगे कि इसकी कीमत क्या चुकानी पड़ रही है, तो वह लंबा ठहराव खुद ही टूटने लगता है — भले ही अभी छोड़कर जाना शुरू न हुआ हो।

अध्याय 5

सर्दियों का सफर: उम्मीद की आदत

जब हम उस सर्दी में सपरिवार घूमने गए, तब मैं पहले जैसी उम्मीद से भरी नहीं थी।

तब तक उम्मीद का मतलब आशा नहीं था। कोई भरोसा नहीं था। अच्छे दिनों पर यकीन नहीं था। वो एक आदत बन चुकी थी — कुछ ऐसा जिसके लिए मैं अब भी हाथ बढ़ा देती थी, भले ही उसने बहुत पहले देना बंद कर दिया था। फिर भी, मैं जाने के लिए राजी हो गई।

क्योंकि जब तुम किसी ऐसी चीज़ को ज़िंदा रखने की कोशिश कर रहे होते हो जो ठीक से साँस लेना बंद कर चुकी है, तो तुम यही करते हो। तुम जगह बदलते हो। तुम खुद से कहते हो कि धूप उस सख्ती को नरम कर देगी जिसे खामोशी ने सख्त बना दिया है। तुम उम्मीद करते हो कि एक अलग आसमान तुम्हारे बगल वाले इंसान का एक अलग रूप सामने ला सकता है। मुझे किसी चमत्कार की उम्मीद नहीं थी।

मुझे राहत की उम्मीद थी। थोड़ा आराम। थोड़ी नमी। थोड़ी याद कि जो कभी मुमकिन लगता था। पर दूरी भावनात्मक घाव नहीं भरती जब घाव खुद दूरी हो। और यह यात्रा — जो सुकून देने के लिए थी, वही सब चीज़ों का पर्दाफाश हो गया।

भागने का भ्रम

बाहर से, यह यात्रा एकदम सपनों जैसी लगती थी। गुनगुनी हवा। खुला आसमान। बच्चे खुलकर हँस रहे थे, उनकी खुशी बड़ों के अंदर मौजूद तूफानों से अछूती थी।

लोग मानते हैं कि ऐसी जगहें मरहम होती हैं, कि समंदर किनारे शादियाँ सुधर जाती हैं और धूप खामोशी ठीक कर देती है। पर अलगाव को जगह से फर्क नहीं पड़ता। वो तुम्हारे साथ चलता है। वो दो लोगों के बीच बैठता है, तब भी जब रेत नरम हो और रोशनी सुनहरी हो। मैंने इसे पहले ही दिन महसूस कर लिया। वही जानी-पहचानी भावनात्मक गैर-मौजूदगी।

वाक्यों के बीच सन्नाटा पसरा था। बातचीत बस ऊपर-ऊपर से फिसलती थी। गहराई में जाना खतरनाक लगता था। कुछ फीट दूर खड़े होकर भी मैं खुद को अदृश्य महसूस करती थी। मैंने खुद से कहा, पहला दिन है। छुट्टियों में घुलने-मिलने में वक्त लगता है। खुद से कहा, ज़्यादा मत सोचो। पर मेरा शरीर जानता था। वो हमेशा पहले जानता है। सीने में एक दर्द-सा था। चुपचाप सतर्क रहना। वो काँच पर चलने वाली सावधानी — लहज़ा संभालना, खामोशी संभालना, मिज़ाज संभालना।

मैंने खुद को वही करते पाया जो मैं सालों से करती आई थी: माहौल का बोझ ढोना, रिश्तों की दरारें पाटना, तनाव को पहले से भाँप लेना, खुद को बदल लेना ताकि दूसरों की भावनाएँ आहत न हों। और उस कोशिश के नीचे वही जानी-पहचानी, अनकही मान्यता थी जो औरतें बहुत आसानी से भीतर उतार लेती हैं:

कुछ बिगाड़ना मत। माहौल खराब होने की वजह मत बनना।

तूने नींद खराब कर दी

जैसे सारा बवाल मेरी वजह से था।

जैसे घर की सारी दरारें मैं ही थी।

और रात-रात भर जागती भी मैं ही थी।

वो पल जब सब साफ हो गया

उस पल की कोई तस्वीर नहीं है। दिखाने के लिए कुछ नाटकीय नहीं। बस एक छोटी सी बात — एक लहज़ा, एक नज़र, एक टिप्पणी — जो जितना चुभना

चाहिए था उससे ज़्यादा चुभ गई। मैं शब्द यहाँ दोहराऊँगी नहीं। यह कहानी किसी पर आरोप लगाने की नहीं है।

यह असर की है। क्योंकि अहमियत इस बात की है कि मेरे शरीर ने उसे कैसे लिया। न चिढ़ की तरह। न चोट की तरह। न एक झटके की तरह।

बल्कि सच की तरह।

वो ठंडी, तोड़ देने वाली खामोशी जो अंदर की सबसे गहरी दरार से उठती है, जब आत्मा उस सच को पकड़ लेती है जिससे दिमाग बरसों से समझौता कर रहा था। उस पल मुझे गलत नहीं समझा गया था। मुझे परिभाषित कर दिया गया था।

देखा नहीं गया। एक खाँचे में ढालकर दूसरे की सोच में जड़ दिया गया। और सबसे बुरी बात?

मैंने इस अहसास को पहचान लिया। क्योंकि यह नया नहीं था। यह पल बस वही था जिसे मैं अब और नज़रअंदाज़ नहीं कर सकती थी। मुखौटा फिसल गया। उसका नहीं, मेरा। वह मुखौटा जो मैंने शांति बनाए रखने के लिए पहना था। वह मुखौटा जो मैंने इसलिए पहना था ताकि मुझे "परेशान करने वाली औरत" न समझा जाए। वह मुखौटा जो मैंने सबके आराम के लिए अपनी कीमत पर पहना था।

शब्दों के बाद — खामोश बिखराव

लोग सोचते हैं ऐसे पलों में नाटक होता है — चीख-पुकार, आँसू, झगड़ा। पर मैंने जो महसूस किया वो था थकान। ऐसी थकान जो तुम्हारी हड्डियों तक उतर जाती है जब तुम्हें अहसास होता है कि तुमने जितना माना था उससे कहीं ज़्यादा भारी बोझ उठाया है। अपनी उम्र से भी भारी। एक ऐसा बोझ जिसे तुमने सामान्य मान लिया था। एक ऐसा बोझ जिसे तुमने संस्कार, फर्ज, शादी के नाम पर सही ठहराया था। एक बार इज़्ज़त में दरार पड़ जाए, तो वो चुपचाप नहीं जुड़ती।

बाद में, जब बच्चे आखिरकार सो गए और कमरे में शांति छा गई, तब मैंने उस पल को पूरी तरह महसूस किया।

न गुस्सा।

न दिल टूटना।

न घबराहट।

समाप्ति। वह भीतरी फैसला जो तब आता है जब तुम्हारा शरीर खुद को धोखा देने में साथ देना बंद कर देता है:

"यह कोई पल नहीं है। यह सच है।"

घर वापसी — जब कुछ नहीं बदला और सब कुछ बदल गया

जिंदगी फिर शुरू हो जाती है, पर तुम नहीं

जब हम वापस ब्रिटेन आए, तो दुनिया अपनी पुरानी लय में लौट आई, जैसे कुछ हुआ ही न हो।

बैग खोले गए। यूनिफॉर्म निकाली गई। बच्चों का स्कूल जाना फिर शुरू हुआ। जिंदगी पहले की तरह हमारे इर्द-गिर्द सलीके से सिमट गई। बाहर से सब कुछ ठीक-ठाक दिखता था। तयशुदा। आम।

पर मेरे भीतर कुछ था जो मानने को तैयार नहीं था। एक सीमा-रेखा थी, एक अंदरूनी लकीर — जो उस सफर में पार हो गई थी। जोर से नहीं। नाटकीय तरीके से नहीं।

बस इतनी कि मेरा शरीर समझ जाए कि भीतर कुछ दरक गया है, जो पहले जमा हुआ था। अब कुछ पहले जैसा नहीं रहा।

मैंने धीरे से, संभलकर, उस पल को फिर से देखने की कोशिश की। बहस के लिए नहीं। आरोप लगाने के लिए नहीं। कुछ भड़काने के लिए नहीं।

बस यह समझने के लिए कि हमारे आस-पास सब कुछ फीका पड़ जाने के बाद भी वो मेरे अंदर इतनी देर तक क्यों गूँजता रहा।

पर जवाब हल्के से आकर लगे, और फिर भी मुझे और अकेला कर गए:

"तुम ज़्यादा सोच रही हो।"

"वो इतनी गहरी बात नहीं थी।"

"तुम बहुत संवेदनशील हो।"

"तुमने गलत समझा।"

कोई दुर्भावना नहीं। कोई ऊँची आवाज़ नहीं। बस दृष्टिकोण का इतना अंतर है कि मेरी भावनाओं के लिए कोई जगह ही नहीं बची।

यही वो खामोश दर्द है जिसके लिए कोई तुम्हें तैयार नहीं करता: कैसे दो लोग एक ही पल से गुज़रते हैं और उसकी बिल्कुल अलग यादें लेकर चलते हैं। एक के लिए, वो मिट जाता है। दूसरे के लिए, वो छप जाता है। कमरे ने जो भुला दिया, मेरी आत्मा उसे भूला नहीं। रात को सीने में उसकी टीस उठती थी। सुबह साँस गले तक आकर ही रह जाती थी। और चुप्पी, जो पहले से कहीं ज़्यादा भारी लगती थी।

यह डर नहीं था — यह इस बात का अहसास था कि मेरे अंदर कुछ बदल गया है, और मुझे नहीं पता था कि इसे वापस वहीं कैसे रखूँ जहाँ से यह आया था।

और इन सबके नीचे वो गूँज जी रही थी जो मुझे बड़े होने से बहुत पहले विरासत में मिली थी:

सहन करो।

ढल जाओ।

सह लो।

ढोते रहो।

वह अनकहा सामाजिक समझौता:

माहौल मत बिगाड़ो। दूसरों को परेशान करने वाली बात मत उठाओ। घर में बेचैनी की वजह मत बनो।

तुमने नींद खराब कर दी।

किसी और के कामों की वजह से नहीं, बल्कि इसलिए कि मैं अब उन सच्चाइयों के साथ जाग रही थी जिन्हें मैं अब और नज़रअंदाज़ नहीं कर सकती थी। मेरे आस-पास की दुनिया वैसी ही दिखती थी, पर उसमें चुपचाप चलने वाली औरत पहले जैसी नहीं रही थी।

मैं उसी ज़िंदगी में लौट रही थी, पर एक ऐसे दिल के साथ जो अब उन तरीकों से जीने को तैयार नहीं था जिन्होंने मुझे पहले चुप रखा था। और यह बात कोई नहीं बताता:

कभी-कभी ज़िंदगी का असली मोड़ वह घटना नहीं होती, बल्कि वह तुम होती हो जो उस घटना के बाद घर आती हो और जानती हो कि अब पीछे लौटना संभव नहीं है।

दर्द देने वाली शर्तों पर साथ

दिल टूटने का एक खास तरह का दर्द होता है। यह साथी से नहीं, बल्कि उन लोगों से मिलता है जिनके बारे में तुमने सोचा था कि वे हमेशा तुम्हारे और दर्द के बीच खड़े रहेंगे। मेरे लिए, वह पल था जब मुझे समझ आया कि जिस प्यार के भरोसे मैं बड़ी हुई, उसकी कुछ शर्तें थीं जिन्हें मैंने तब तक नहीं पहचाना जब तक मुझे उसकी सबसे ज़्यादा ज़रूरत नहीं पड़ी। जब मैंने आखिरकार बोलने की कोशिश की, सच में बताया कि मैं कैसा महसूस करती हूँ, मेरे सीने में कैसा दर्द है, मेरे अंदर की उस खामोश उथल-पुथल के बारे में जो पीछा ही नहीं छोड़ रही थी,

तो मुझे वह संरक्षण नहीं मिला जिसकी उम्मीद थी।

मुझे डर मिला।

मुझे झिझकते हुए लोग मिले।

मैं उस सांस्कृतिक प्रवृत्ति से टकराई जिसमें शादी को बचाना, उस औरत के बचाने से ज़्यादा ज़रूरी माना जाता है जो उसके अंदर जी रही है।

तसल्ली देने वाले शब्दों और सोची-समझी चुप्पियों के पीछे जो मैंने सुना, वह प्यार की कमी नहीं थी — बल्कि पीढ़ियों की उम्मीदों में ढला हुआ प्यार था।

"लोग क्या कहेंगे।"

"तुम्हारे बच्चों को स्थिरता चाहिए।"

"शादी में ये सब होता है।"

"थोड़ा और वक्त दो।"

और इन सबके नीचे एक जाना-पहचाना संदेश छिपा था:

"जिसे हमने तुम्हें जोड़कर रखना सिखाया, उसे मत तोड़ो।"

मैं न समाधान माँग रही थी, न किसी का समर्थन। मैं सिर्फ इतना चाह रही थी कि कोई मुझे समझे।

लेकिन इसके बदले मेरे सीने में एक खामोश दुख बैठ गया — यह जानने का दुख कि मेरा परिवार मुझे इससे बाहर नहीं निकालेगा। इसलिए नहीं कि उन्हें परवाह नहीं थी, बल्कि इसलिए कि वे उसी सोच-समझ से मेरी परवाह करते थे जिसके साथ वे बड़े हुए थे।

पहली बार मैंने एक दक्षिण एशियाई बेटी होने का बोझ महसूस किया — प्यार तो बहुत मिलता है, पर दिल टूटने पर भी पहले से चले आ रहे नियमों से ही उसे चलाया जाता है। उस रात, मेरे अंदर कुछ टूट गया।

शादी नहीं — मैं ही टूट गई थी।

मैं इस ज़िंदगी से बाहर निकलना चाहती थी।

नाटकीय ढंग से नहीं।

बिना सोचे-समझे नहीं।

बल्कि धीरे से, ईमानदारी से, एक ऐसी बेबसी के साथ जिसका नाम भी मैं अभी नहीं जानती थी। मैं उस चुप्पी को तोड़ना चाहती थी।

उस किरदार से, खुद के उस रूप से बाहर निकलना चाहती थी, जो सब कुछ सहती रही ताकि किसी और को बुरा न लगे।

मैं किसी को नाराज़ नहीं करना चाहती थी। मैं पारिवारिक संस्कारों वाली निष्ठा को तोड़ना नहीं चाहती थी। पर मुझे समझ में आने लगा था कि जैसी मैं हूँ, वैसी ही रह गई तो इसकी कीमत, शायद छोड़ देने की कीमत से कहीं बड़ी होगी।

यह बगावत नहीं थी।

यह जिद नहीं थी।

यह सच्चाई का पहला पल था:

मेरा परिवार मुझे इस ज़िंदगी से नहीं बचा सकता।

मुझे खुद को बचाना होगा।

तूने नौद खराब कर दी

सिर्फ शादी की वजह से नहीं, बल्कि इसलिए कि मेरे सीने में उतरी सच्चाई के कारण मैं अब सो नहीं पा रही थी।

असर — वह बेटी जिसे अपने परिवार की ज़रूरत थी

उस बातचीत के बाद, मैं घर में एक तरह के जज़्बाती कोहरे में चल रही थी — एक बेचैनी जो कमरे से नहीं, बल्कि मेरे अंदर बैठ रही सच्चाई से थी:

इसमें मैं सच में अकेली थी।

प्यार से वंचित नहीं।

छोड़ी हुई नहीं।

बस उस तरह से सहारा नहीं मिला जिसकी मुझे सबसे ज्यादा ज़रूरत थी। यह एक खामोश दुख है, यह जानने का दुख कि तुम्हारा परिवार तुमसे प्यार तो करता है पर तुम्हारे उस दर्द में तुम्हारे साथ नहीं खड़ा हो सकता जिसमें तुम अभी जी रही हो। मुझे याद है मैं बिस्तर के किनारे बैठी थी, फोन अब भी हाथ में था, दीवार को अविश्वास से घूर रही थी जब एक नई सच्चाई मेरी रूह से फुसफुसाकर गुज़र रही थी। मैं अपना परिवार चाहती थी। उम्मीदों, इज़्ज़त, और पीढ़ियों के भरोसे से बना परिवार नहीं, मैं वह जाना-पहचाना सुकून चाहती थी, वह बिना शर्त के स्नेह और हमेशा साथ रहने वाली सुरक्षा की चाह थी।

मैंने परिवार तक पहुँचने की कोशिश की। मेरी परंपराओं से टकराहट हुई। ये वे परंपराएँ थीं, जिनके बीच वे बड़े हुए थे।

उनका प्यार सच्चा था। ठहरा हुआ, गहरा, असली। पर उसके चारों ओर सीमाएँ थीं। उनकी दुनिया ने बनाई थीं, मेरी नहीं। और मैं उन्हें इसके लिए दोष नहीं देती। सच कहूँ तो, नहीं देती। पर डर में लिपटा प्यार एक बेटी की देह पर अलग तरह से लगता है।

उस रात मैंने एक तरह की भावनात्मक दूरी महसूस की। यह दूरी किसी की क्रूरता के कारण नहीं थी। हालात ने दूरियाँ बना दी थीं। मेरा परिवार मुझसे अलग होने की कोशिश नहीं कर रहा था। वे उन भरोसों का सहारा ले रहे थे जिन्होंने उस वक्त उन्हें सुरक्षित रखा था जब बेटियों के पास कम ही रास्ते थे। पर जिस चीज़ ने उन्हें बचाया था, वही मेरा दम घोंट रही थी।

यह विकट स्थिति होती है जब तुम समझो कि जिन लोगों से तुम प्यार करते हो वे तुम्हें ऐसे तरीकों से बचाने की कोशिश कर रहे हैं जो अब तुम्हारी रक्षा नहीं करते। सच यह है कि वैसे पल का सामना करने के लिए कोई तुम्हें तैयार नहीं करता है। मैं चुपचाप रोई। मैं आपने बेटों को जगाना नहीं चाहती थी। सोच रही थी कि मुझसे पहले कितनी बेटियाँ बिल्कुल ऐसे ही बैठी होंगी: अपने परिवार से प्यार करते हुए, उनकी ज़रूरत महसूस करते हुए, पर यह जानते हुए कि उन्हें खुद ही उस दर्द से

गुजरना होगा जहाँ कोई रास्ता नहीं दिखा सकता। न तो यह धोखा था और न ही यह ठुकराया जाना था।

यह पीढ़ियों के बीच की खाई इतनी चौड़ी थी कि कोई शब्द नहीं पाट सकता था। मेरा परिवार मुझे छोड़ नहीं रहा था। वे तो बस वही पटकथा निभा रहे थे जो उन्हें सौंपी गई थी। पर वह पटकथा उस औरत के लिए नहीं लिखी गई थी जो मैं बन रही थी। और निष्ठा तथा स्नेह के बीच की खाली जगह में मुझे कभी-कभी लगता था जैसे वह उनसे ज़्यादा जुड़ा था, मुझसे नहीं।

सांस्कृतिक गूँज — वह बोझ जिसका कोई नाम नहीं लेता

हमारे समाज में, प्यार अक्सर नसीहत के साथ आता है — परंपरा से बनी नसीहतें, और परंपरा बनी है जिंदा रहने की जद्दोजहद से। बेटियाँ अनबोले आदेशों के साथ पाली जाती हैं:

सहो।

समझौता करो।

ढोती रहो।

बिखरो मत।

घर मत उजाड़ो।

बदनामी मत कराओ।

अपने बारे में इतनी ज़्यादा मत सोचो।

ये सीखें सजा के तौर पर नहीं होतीं। ये रोक-टोक सुरक्षा के कारण आती हैं। हमारी पीढ़ियों ने ऐसी परिस्थितियों में घर नहीं छोड़ा था, ऐसा करना उनकी सोच से परे था। उन्होंने सीखा था कि चुप ही रहना सुरक्षित है। मेरे परिवार ने मुझे वही बातें दीं जो उन्हें लगता था मुझे संभाले रखेंगी। लेकिन जो चीज उन्हें संभाल रही थी, वही मुझे डुबा रही थी।

यह बात समझ जाने से भी मेरा दर्द कम नहीं हुआ। दर्द और चुभने लगा। क्योंकि अचानक मैं दो दुनिया के बीच फँस गई थी। एक तरफ वह बेटी थी, जिसे माता-पिता ने पाला था और दूसरी ओर वह नई औरत जो मैं बन रही थी। दोनों अब साथ नहीं चल सकती थीं। बड़ी होती हुई मैं अब बचपन के पुराने नियमों में नहीं रह पा रही थी।

मुझे गुस्सा नहीं आ रहा था। यह दिल टूटना था — शांत, दबा हुआ, मेरी अरमानों के पीछे फँसा हुआ। उस रात को मैं बहुत कुछ साफ-साफ समझी। अगर मुझे घर छोड़ कर निकलना था, तो मुझे खुद ही कदम उठाने पड़ते। यह इसलिए नहीं कि मेरा परिवार मुझसे प्यार नहीं करता था, बल्कि उनके प्यार करने का तरीका मेरे सच का बोझ उठाने के लिए तैयार नहीं था।

वह सवाल जो मेरा पीछा नहीं छोड़ रहा था

यात्रा के बाद, बात को छोटा बताने के बाद, 'शांति बनाए रखो' वाले जाने-पहचाने संदेश के बाद, एक सवाल हर जगह मेरे साथ रहा:

उस औरत पर क्या बीतती होगी जो लगातार वह सब सहती रहती है जो उसे चुपचाप तोड़ रहा होता है।

मैंने खुद को सच में परखना शुरू किया।

कितनी बार मैंने अपने शब्द निगल लिए।

कितनी बार मैंने शांति बनाए रखने के लिए सच नहीं बोला।

कितनी बार मैंने किसी और के कड़वे लहजे के लिए माफ़ी माँगी।

कितनी बार मैं दरकती हुई शांति को बचाने के लिए चुप रही।

कितनी बार मैंने कभी न आने वाले प्यार का इंतज़ार किया।

और पहली बार, मैंने खुद को वह सोचने दिया जिससे मैं सालों से बच रही थी:

कि रुकना, छोड़ने की तुलना में ज़्यादा महँगा पड़ सकता है।

यह विरोध नहीं था।

यह नाटक नहीं था।

यह प्रतिशोध नहीं था।

यह खुद को बचाने की भावना थी, जो धीरे-धीरे जाग रही थी।

वे साल जिन्होंने मुझे थका दिया

एक तरह का दुख होता है जिसके बारे में कोई तुम्हें पहले से नहीं बताता। समय का वह दौर जब तुम्हारे अंदर सब खत्म हो चुका होता है, पर तुम दिखावा करती हो कि ऐसा कुछ नहीं हुआ।

ये वे साल थे जिन्होंने मुझे थका दिया।

यह थकान इसलिए नहीं थी कि कोई बड़ा हंगामा हुआ था, बल्कि इसलिए कि कुछ भी नहीं बदला।

हर दिन वही दोहराव:

तनाव, खामोशी, दिखावा, टूटना — फिर अगली सुबह वही सब दोबारा। मैं किसी संकट में नहीं थी। मैं फैसले नहीं ले पा रही थी। मैं छोड़ने के लिए तैयार नहीं थी। मैं रुक भी नहीं पा रही थी।

वो सालों की कशमकश जो मुझे तोड़ रही थी

मुझे इस कशमकश की स्थिति ने थका दिया था। एक औरत धीरे-धीरे टूट रही थी। वह खुद को समझाती रही कि जो ज़िंदगी उसे जीनी थी, वही वह जी रही है।

मैं न किसी से लड़ रही थी, न किसी चीज़ के लिए।

मैं उस सच से लड़ रही थी जिसका नाम लेने की भी हिम्मत मुझमें नहीं थी।

वे साल थे जिन्होंने मेरा हौसला तोड़ दिया। जब सिर्फ झेलते रहना ही मेरी पहचान बन गया। मैं खुद को तसल्ली देती रही कि शायद कल कुछ बदलेगा, जबकि हर कल हूबहू पहले जैसा निकलता था।

यह धीरे-धीरे उधड़ना था — पूरी तरह बिखरने से बहुत पहले, टूटने से बहुत पहले, उससे भी पहले जब दूसरों को समझ आया कि मैं अब ठीक नहीं हूँ।

सच एक झटके में नहीं आया।

इसने मुझे तिल-तिल कर तोड़ा, जब तक कि सच से मुँह मोड़ना, सच को जीने से ज्यादा भारी नहीं पड़ गया।

उसी संघर्ष में जीना और काम करना

'शे' के जन्म के बाद मेरे माता-पिता ने सुझाव दिया कि मैं पारिवारिक व्यवसाय में हिस्सेदार बन जाऊँ। वे सच्चे मन से मानते थे कि इससे सब सँभल जाएगा — रिश्ते, उनका तनाव, सब कुछ। उनकी नज़र में यह मेरी सुरक्षा थी। एक सहारा। सब व्यवस्थित रखने का तरीका। जब माँ-बाप कहते हैं, "यह सबके भले के लिए है", तुम बहस नहीं करतीं। हिसाब नहीं लगातीं। कीमत नहीं पूछतीं। तुम उनके दिल पर भरोसा करती हो।

सो मैं जुड़ गई।

जो तब समझ नहीं आया, वह यह था कि इसने मुझे पूरी तरह घेर लिया। मैं सिर्फ परिवार के साथ काम नहीं कर रही थी — मैं एक ही मानसिक संघर्ष के भीतर जी रही थी और काम कर रही थी। जहाँ रिश्तों और काम के बीच कोई लकीर नहीं थी। जहाँ साँस लेने की भी अलग जगह नहीं थी। मेरी माँ। मेरे पिता। मेरे पति।

घर पर भी वही चेहरे। दफ़्तर में भी वही चेहरे।

घर में भी वही तनाव था। हर जगह एक जैसी उम्मीदें थीं।

मेरी शादी मेरा पीछा नहीं छोड़ती थी। ऐसी कोई जगह नहीं था जहाँ मैं मेरा दुख थोड़ी देर भूल जाऊँ।

मेरे निजी अस्तित्व के लिए कोई जगह नहीं थी — ऐसी जगह जहाँ मैं सिर्फ मैं बन सकूँ, बिना किसी की बेटी, किसी की पत्नी, या घर में शांति बनाए रखने की ज़िम्मेदारी वाली औरत के। मैं पहले से ही घर में शांति रखने की कोशिश कर रही थी। काम पर वह ज़िम्मेदारी और बढ़ गई। हर बात दिल-दिमाग पर बोझ बन जाती थी। मेरी खामोशी पर सबकी नज़र रहती थी। हर बुरा दिन मेरे खिलाफ़ सबूत लगता था। अगर मैं चुप थी, तो लगता चिंता में हूँ। अगर दूर थी, तो लगता तनाव में हूँ।

अगर मैं भावुक होती, तो लगता सब बिगाड़ रही हूँ। मैंने खुद पर हर वक़्त नज़र रखना सीख लिया — मेरी आवाज़, मेरा चेहरा, मेरी ऊर्जा — क्योंकि ऐसी कोई जगह नहीं थी जहाँ मेरी भावनाएँ किसी और को न छूती हों।

कोई बीच की जगह नहीं थी। निजी दर्द और सामूहिक नतीजों के बीच कोई दीवार नहीं थी।

कोई ऐसा रास्ता नहीं था जो छोड़कर जाना न लगे। और धीरे-धीरे, बिना किसी के कहे, मुझे समझ में आने लगा कि मेरी ज़िंदगी अब पूरी तरह मेरे बस में नहीं रही। कि शादी छोड़ना सिर्फ़ मेरा फ़ैसला नहीं होगा — यह परिवार को, कारोबार को, उस संतुलन को हिला देगा जिसे सब बचाने की कोशिश कर रहे थे।

यह बात सीने पर भारी बैठ गई। और इसके नीचे वह सज़ा थी जिसे मैंने ज़िम्मेदारी समझकर ढोना सीख लिया था:

तूने नौद ख़राब कर दी

तूने चिंता पैदा कर दी।

तूने सब बिगाड़ दिया।

तूने उन लोगों की जिंदगी मुश्किल कर दी जो तुझसे प्यार करते हैं। किसी ने मुझे पर आरोप नहीं लगाया। मैंने खुद पर लगाया।

पारिवारिक व्यवसाय ने मुझे सहारा दिया — लेकिन इसने मेरी खुशी को सबकी खुशी से जकड़ दिया।

अगर मैं दुखी होती, तो लगता कि सिर्फ अपने बारे में सोच रही हूँ। अगर मैं जूझती, तो कृतघ्न लगती। अगर निकलना चाहती, तो लगता जैसे कुछ तोड़ने की अनुमति माँग रही हूँ।

....जो सिर्फ मेरी नहीं थी। इतनी कसकर थामे जाने में सुकून नहीं था, वहाँ घुटन थी। और मैं हर एक दिन, दोनों के भीतर जी रही थी।

सहनशक्ति जवाब दे गई

जब मैं खुद को फर्श पर पड़ा पाती, तब तक थकान शब्दों से आगे निकल चुकी थी। थकान को बयां करना संभव नहीं था। यह नाटक नहीं था।

मैं कुछ भी साबित नहीं करना चाहती थी। मैं गिड़गिड़ा रही थी क्योंकि आगे चलने की कोई राह नहीं बची थी। "प्लीज़... प्लीज़ मुझे इस शादी से जाने दो। प्लीज़ मुझे ऐसे जीने से रोक दो। मैं अब और नहीं सह सकती।" मेरे मुँह से यह शब्द निकलते ही राहत से भी तेज़ गति से अपराधबोध उठा। खुद के निकलने की चाह सिर्फ हार स्वीकार करना नहीं लगी, लगा जैसे उन्हें चोट पहुँचा रही हूँ। लगा जैसे उस डर पर मुहर लगा रही हूँ जिसे मैं बरसों से ढो रही थी:

क्या मेरी उदासी ही समस्या है, क्या मेरा दर्द ही शांति भंग कर रहा है।

तूने शांति भंग कर दी

उन्होंने कभी आरोप नहीं लगाया। मैंने खुद पर लगाया। मेरा दुख केवल मेरा नहीं था, वह सामूहिक अभिव्यक्ति था।

मुझे प्रतीत होता था कि अपने माता-पिता के साथ मैं अन्याय कर रही हूँ। मैं कमज़ोर नहीं थी। मैं अस्थिर नहीं थी। एक साथ थकान और शर्मिंदगी का एहसास था। शर्मिंदगी की वजह यह थी कि मेरे दर्द का असर मेरे साथ-साथ बहुतों पर हो रहा था।

और वहाँ मैं फर्श पर रोती, काँपती — स्वयं को स्थितियों से बाहर निकालने की गुहार नहीं कर रही थी — मैं उनकी चिंता का कारण बनना बंद करने की अनुमति माँग रही थी।

मेरा सच सवालों के घेरे में

मदद माँगने पर मेरे प्रति अविश्वास हुआ। मेरे दर्द को किसी ने इस बात का सबूत नहीं माना कि मेरी जिंदगी टूट रही है। उसे इस बात का सबूत माना गया कि मैं ही टूट रही हूँ।

मैं अभी भी उन्हीं लोगों के साथ जी रही और काम कर रही थी। अब भी खुद पर हर वक्त नज़र रखती थी, सावधानी से संभाल रही थी। अब भी मेरी यह कोशिश थी कि मेरी तकलीफ़ छलककर दूसरों को भिगो न दे।

...किसी और पर न पड़े। हर दिन एक संतुलन साधने जैसा लगता था — चुपचाप सहते रहने और हालात खराब करने की वजह न बनने के बीच।

जब मेरे पिता मुझे एक होलिस्टिक डॉक्टर के पास ले गए, तो कारण यह नहीं था कि वे मेरी बात से सहमत थे,

बल्कि इसलिए कि उनकी सोच से इसकी कोई और वजह होनी ही थी। कुछ मानसिक बात। कुछ अंदरूनी मसला। कोई ऐसी चीज़ जिसे सुधारने के लिए उस जिंदगी को उजाड़ना न पड़े जिसे हम सब संभाल रहे थे।

मुझे सुकून नहीं मिला। मैं बेपर्दा, असुरक्षित महसूस कर रही थी। मुझे याद है, मैं वहाँ बैठी थी। एक-एक शब्द सोच-समझकर बोल रही थी। अपनी जिंदगी को इस तरह बयान करने की कोशिश कर रही थी कि एहसान-फरामोश न लगूँ, न नाटक

का पात्र दिखूं और न अपने माता-पिता के योगदान की कद्र न करने वाली समझी जाऊं।

मैं तब महसूस कर पा रही थी: मेरे दर्द को जांचा-परखा जा रहा था। यकीन नहीं किया जा रहा था। डॉक्टर चुपचाप सुनते रहे। और फिर उन्होंने बताया कि लगातार इतने तनाव में रहना मेरे स्वास्थ्य को गंभीर खतरे में डाल रहा है। मैंने अपने पिता को यह बात मानते हुए देखा। और उसी पल, एक तकलीफदेह सच मेरी समझ में स्पष्ट हो गया: मैं सच्चाई को अकेले ढोकर अपने माता-पिता को बचाने की कोशिश कर रही थी, और वे यह मानकर कि मुझमें ही गड़बड़ है, खुद को मुझसे ही बचा रहे थे। सच्चाई से बचा रहे थे। यह शांति बनाए रखने की एक कीमत थी, जिसे मेरे जिस्म से ही वसूला जा रहा था।

पहला कदम...

छोड़ना आजादी नहीं, हार जैसा लगा। 2014 में मैं पारिवारिक व्यवसाय से अलग हो गई। यह कदम इसलिए नहीं था कि मुझे परवाह नहीं थी या अपने माता-पिता को नकार रही थी और न ही उनके बनाए हुए को मैं महत्व नहीं दे रही थी। मैं इसलिए अलग हुई कि मैं आर्थिक आजादी चाहती थी। जब तक मेरी आय, मेरी सुरक्षा, मेरी स्थिरता पारिवारिक व्यवसाय से बंधे थे, मुझे नहीं लगता था कि मेरे पास सच में कोई विकल्प है — सिर्फ अनुमति के अलग-अलग स्वरूप।

वहीं रुकने का मतलब था कि मेरी शादी, मेरी जिंदगी, मेरे भविष्य का हर फैसला किसी और के डर और जिम्मेदारी से जकड़ा रहता। मुझे खुद को यह साबित करना था कि मैं अपने दम पर खड़ी हो सकती हूँ।

कि मैं अपना गुजारा खुद कर सकती हूँ।

कि मैं भाग नहीं रही थी — बस जीना चाहती थी। तब भी कसूरवार होने का एहसास साथ नहीं छूटा। वह वाक्य मैं कभी नहीं भूली:

तूने नींद खराब कर दी

तब भी मुझे लगता था कि आजादी चुनने का मतलब था खुद को माँ-बाप से ऊपर चुनना। यह बात विश्वासघात जैसी लगती थी।

लेकिन मेरे शरीर ने एक बात पहले ही मुझसे साफ कर दी थी:

अपने पैरों पर खड़े हुए बगैर सही आजादी नहीं मिल सकती। बगैर आजादी के सच्चा फैसला नहीं किया जा सकता।

बगैर सही फैसले के मैं अपनी ही जिंदगी में गुम हो जाती।

व्यवसाय का त्याग करने से सब समस्याओं का समाधान नहीं हुआ।

इससे अपराध-बोध खत्म नहीं हुआ। एकदम से चैन नहीं मिला। पर एक चीज मिली जो पहले कभी नहीं थी: अब मैं अपने फैसले खुद ले सकती थी, बिना यह लगे कि किसी और का नुकसान करके जी रही हूँ।

इससे मैं धीरे-धीरे हो रही बिखराव से बच गई। और जीवन के उस चरण में बस इतना ही बहुत था, इतना ही माँगना आता था।

इनकार का अंत, परंतु स्तब्धता का प्रारंभ

इनकार एक बार में खत्म नहीं होता।

यह धीरे-धीरे, परत-दर-परत खत्म होता है — पतली, दर्द भरी, टाली न जा सकने वाली परतें — जब दिखावे की कीमत सच्चाई से ज्यादा भारी होने लगे।

सबसे कठिन यह मानना नहीं था कि कुछ गलत हो रहा है। कठिन यह मानना था कि मैं यह बात बहुत पहले से जानती थी।

मेरे शरीर को पता था।

मेरे मन को पता था।

मेरे आँसुओं को पता था।

मेरी जागती रातों को पता था।

मैं बस उस बात को समझ रही थी जिसे मेरा दिमाग सालों से झेल रहा था।

हिम्मत ने मुझे आगे बढ़ाया — और उसी ने मुझे जकड़ के भी रखा था।

जब तक मैं व्यवसाय से अलग हुई, तब तक वह फैसला किसी जज़्बात के साथ नहीं आया। न कोई सुकून मिला। न कुछ साफ-साफ दिखा। न जीत की खुशी, न हार का ग़म। वह नाटकीय नहीं था। यह बस एक प्रक्रिया थी जो कि ज़रूरी थी शांति के लिए।

छोड़ना कोई साहस का काम नहीं था। वह खुद को समेट लेने की मजबूरी थी। मैं आज़ादी महसूस नहीं कर रही थी।

दिमाग के बोझ में कमी होने का एहसास नहीं हुआ। खुद की अहमियत कम होती लगी।

तभी जड़ता ने जकड़ लिया, तभी मैंने स्तब्ध मेहसूस किया

मैं ढह नहीं रही थी।

मैं सिमट रही थी।

मैं दुःखी नहीं थी।

मेरे अंदर खालीपन था।

मैं जी नहीं रही थी।

मैं बस काम कर रही थी।

और स्तब्ध होकर अपने कार्य करना एवं जीना स्त्री की सबसे घातक स्थिति होती है, क्योंकि यह परिवर्तन नहीं माँगती। यह बचाव के लिए नहीं पुकारती। यह जिंदगी को वैसे ही चलने देती है जैसी वह है।

2014 तक मेरे शरीर ने एक फैसला ले लिया जिसके लिए मेरा मन तैयार नहीं था।

उसने सारे दरवाज़े बंद कर दिए।

मैंने खुश होना छोड़ दिया।

गुस्सा करना छोड़ दिया।

उम्मीद करना छोड़ दिया।

मैंने कुछ भी महसूस करना छोड़ दिया।

मैंने बहुत सारी भावनाएँ दबा रखी थीं। उन्हें महसूस करने से कहीं ज्यादा सुरक्षित था भावशून्य हो जाना।

फिर भी, सभी को यकीन दिलाते हुए मैं पूरी ताकत से काम करती रही।

पर काम करते रहना जीना नहीं होता।

यह मेकअप लगाकर मुसीबतें छुपाने जैसा है।

मैं कार में रोई।

फिर अपना चेहरा पोंछा।

और घर चली गई।

खाना पकाया।

किसी ने मेरी हालत पर ध्यान नहीं दिया। क्योंकि भावशून्य स्त्रियाँ सब कुछ चुपचाप संभाल लेती हैं।

जीवन का यह अध्याय किसी लड़ाई पर खत्म नहीं हुआ।

यह तलाक पर खत्म नहीं हुआ।

यह किसी नतीजे पर खत्म नहीं होता।

यह खत्म होता है उस स्त्री पर, जो सीधी खड़ी है, हर हाल में सब निभा रही है, और जब उसने शादी का बोझ पीठ से उतारा, तभी समझ आया कि उस बोझ को ढोते-ढोते वह खुद को कितना खो चुकी है।

अध्याय 6

वे साल जब हम साथ होकर भी अलग थे

जो अंत सबसे खामोश होता है, वही सबसे लंबा होता है

शादियाँ अचानक बहुत कम टूटती हैं। कुछ शादियाँ धीरे-धीरे खत्म होती हैं। वजह होती है — घर की दीवारें हिला देने वाले झगड़े, दिनभर छाई रहने वाली खामोशी, और साँसों में घुल जाने वाला तनाव।

मेरी शादी का अंत किसी पारिवारिक तमाशे से नहीं हुआ। वह सालों तक रिश्तों के घसीटने का नतीजा था, जबकि हम एक ही छत के नीचे रहते थे।

हमने रोज़ के काम, खाना बनाना और बाकी ज़िम्मेदारियाँ बाँटीं। बाहर से देखने पर हम एक आदर्श जोड़ा लगते थे।

पर मन के भीतर एक ऐसा बवंडर उठता था जिसमें आवाज़ नहीं थी। ज़िंदगी के इस हिस्से की यही विडंबना है: इस पर कोई बात नहीं करता। रिश्ता खत्म हो जाने के बाद भी दुनिया तुमसे उम्मीद करती है कि तुम मुस्कुराती रहो, मेहमानों का स्वागत करो, और हर हाल में सब निभाती रहो। यह भी कि तुम दिखावा करती रहो कि तुम टूट नहीं रही हो।

बाहर से देखने पर हमारा घर तयशुदा ढर्रे पर चलता हुआ, सुव्यवस्थित लगता था।

आम परिवारों जैसी ही दिनचर्या थी — बच्चों को स्कूल छोड़ना, जन्मदिन मनाना, कपड़े धोना, होमवर्क करवाना।

हमारा घर बाहर से हँसता-खेलता, सामान्य-सा लगता था।

लेकिन भीतर कुछ भी स्थिर नहीं था।

मेरी चुप्पी थकान की वजह से थी। लोग उसे मेरा सुकून समझ लेते थे।

हर बार स्कूल छोड़कर लौटने के पीछे, परिवार के साथ हर बार खाना खाने के पीछे, हर उस तस्वीर के पीछे जो 'सामान्य' सी दिखती थी, एक ऐसी औरत थी जो लगभग हर दिन कार में रोती थी।

वो यूँ ही निकले आँसू नहीं थे।

हताशा के आँसू नहीं थे।

वो रोना भी ऐसा होता था जैसे अंदर से कोई पुराना घाव पीड़ा दें रहा हो। वो दर्द था — इतना गहरा कि दिमाग वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाता। वही दर्द आँखों से बह रहा था।

कुछ दिनों तक, काम से लौटने के बाद, मैं घर के बाहर कार में स्टेयरिंग पर हाथ रखे कुछ देर बैठी रहती। अंदर जाने से पहले खुद को समेटती। कभी कुछ सेकंड, कभी कुछ मिनट रो लेती।

मैं किसी एक झगड़े या किसी एक बात पर नहीं रो रही थी। मेरे अंदर सालों से जमा बोझ था जिसके कारण मैं धीरे-धीरे टूटती जा रही थी।

आँसू रोकना सबसे मुश्किल नहीं था।

मुश्किल था ये दिखाना कि मैं रोई ही नहीं।

कार से उतरते ही मैं फिर वही बन जाती जिसकी सबको मुझसे उम्मीद थी:

भरोसेमंद माँ,
हमेशा साथ देने वाली साथी,
सब संभाल लेने वाली,
चेहरे पर 'सब ठीक है' वाली मुस्कान रखने की आदी,
घर को सलीके से चलाने वाली,
हर हाल में शांति बनाए रखने वाली,
अपने जज़्बातों को वैसे ही छुपा लेने वाली जैसे कमरे में बिखरी चीज़ें समेट ली जाती हैं — ताकि कोई बिखराव देख न ले।
हमारे घर में क्लेश नहीं था।
हमारे बीच झगड़े नहीं होते थे।
वहाँ शोरगुल नहीं था।
पर वह एक ऐसे बोझ से दबा था जिसे सिर्फ़ घर के अंदर रहने वाले ही समझ सकते थे।
कुछ रातों को, जब बच्चे सो जाते और घर आखिरकार साँस लेता, मैं पलंग के किनारे बैठ जाती। तब मेरी रुह पर एक वज़न महसूस होता — न दुख, न गुस्सा, न अकेलापन। बस उस औरत के लिए एक लंबा, धीमा ग़म जिसे महसूस करने से मैं कब से बच रही थी।
क्योंकि उन सालों ने मुझे यही सिखाया था:
तुम अंदर से टूटती रह सकती हो और बाहर से एकदम ठीक दिख सकती हो।
तुम ज़िंदगी को चलाती रह सकती हो जबकि तुम खुद कहीं थम चुकी हो।
तुम अपने बच्चों पर जान छिड़क सकती हो और फिर भी उस औरत का मातम मना सकती हो जिसे तुमने सबका बनने में खो दिया।

घर देखने में बिल्कुल सामान्य लगता था।

मगर मेरी मनःस्थिति सामान्य नहीं थी।

और ऐसा ही एक ख़ामोश फ़ासला, जैसी मेरी ज़िंदगी दिखती थी और जैसी मैं जी रही थी, के बीच था। यह फ़ासला ही वह जगह था, जहाँ मेरा शरीर फुसफुसाते हुए सच बोल रहा था:

तूने नौंद ख़राब कर दी।

किसी और ने मेरे जीवन की शांति नहीं छीनी। बल्कि मैं ही एक और औरत बनती जा रही थी जिसके साथ मैं सो नहीं पाती थी।

हर रात वही सवाल और ज़ोर से गूँजता:

अगर मैं उनकी नौंद ख़राब कर दूँ, तो क्या मुझे अपनी ज़िंदगी जीने का हक़ मिलेगा?

कार

कार ही मात्र एक जगह थी जहाँ मैं खुद को टूटने, बिखरने देती थी।

न शयनकक्ष, न स्नानगृह, न घर का कोई शांत कोना — केवल कार ही इकलौती जगह थी, जहाँ मेरा ग़म किसी और की शांति में खलल नहीं डालता था।

मैं वहाँ बैठी रहती, हाथ अभी भी स्टेयरिंग पर होते और पूरे दिन में दिमाग़ में जमे बोझ को वहीं बिखरने देती। कुछ दिन सुबकती, सिसकती, मगर अधिकतर दिन ज़ोर से रोती।

दर्द से भीगे होते थे आँसू। उस दर्द की भाषा नहीं होती। न इसे कोई समझ पाता था और न ही इसकी पीड़ा कम कर सकता था।

वह कार मेरी सच बोलने की जगह बन गई थी।

मेरे घर की तुलना में धातु का वह छोटा-सा डब्बा मेरी सच्चाई अधिक संभालकर रखता था।

कार से बाहर कदम रखने से पहले मैं चेहरे को तेजी से, रगड़कर पोंछती, जैसे किसी गुनाह के सबूत मिटा दिया जाए। दुनिया उस औरत को नहीं, केवल एक माँ को घर के अंदर जाते देखती।

सिर्फ़ कार जानती थी कि मैं टूट रही हूँ।

और हर शाम, घर के अंदर कदम रखने से पहले खुद को समेटते हुए, वही एक खयाल दिमाग़ में चुपचाप चक्कर काटता था:

अगर मैं यहीं, बाहर ही, बिखर जाऊँ... तो कम से कम किसी और की नींद तो खराब नहीं होगी।

दिखावा करने की आदत

दिखावा करना मेरी ज़िंदा रहने का तरीका बन गया था।

ये दिखावा कि झगड़े मुझे हिला नहीं रहे थे।

ये दिखावा कि ख़ामोशी मेरा गला नहीं घोंट रही थी।

ये दिखावा कि घर का माहौल असहनीय नहीं था।

यह दिखावा कि मैं मज़बूत थी।

यह दिखावा कि मैं सब संभाल ले रही थी।

यह दिखावा कि मैं घर लौटने से पहले Tesco के बाहर खड़ी होकर रोई नहीं थी।

मैं दिखावा करने में माहिर हो गई थी, क्योंकि सच बोलने का अंजाम बहुत ख़तरनाक था।

और हमेशा — हमेशा —

संस्कारों के नाम पर लगा आरोप मेरी पीठ पीछे गूँजता रहता था:

"तूने नींद खराब कर दी।"

मैं अमन में खलल नहीं डाल रही थी।

मैं उस शांति को बचाने के लिए अपनी नींद खो रही थी।

खामोशी की भाषा

हमारे घर में सुकून नहीं था। तीखी बहसें होती थीं। ऊँची आवाज़ में एक ही बात को बार-बार कहा जाता था। फिर सन्नाटा छा जाता था।

यह सन्नाटा चीख से भी अधिक कष्टदायक होता था। इस सन्नाटे से आत्मसम्मान पर आघात पहुँचता था।

इस सन्नाटे से आपको यह लगता है कि बोलने के बजाय भावशून्य हो जाना बेहतर है। हम लोग एक वृत्त के आकार में चक्कर काट रहे थे:

बहस — खामोशी — दिखावा — तनाव — फिर बहस

और हर रात जब बच्चे सो जाते, और घर शांत हो जाता, मैं जगी रहती थी। बारह सालों तक पूरी नींद नहीं सोना, यह स्थिति महज़ अनिद्रा नहीं थी, एक सदमा था। तुम्हारे जीवन की संपूर्ण क्षमता बचाव की मुद्रा में आ जाती है। तुम्हारा शरीर आराम नहीं कर पाता है, क्योंकि इसके लिए भावनात्मक सुरक्षा की आवश्यकता होती है, जो मेरे पास नहीं थी।

टूट चुके वैवाहिक जीवन में मातृत्व

मेरे बच्चे मुझे भावनात्मक सुरक्षा भी देते थे और भावनात्मक आघातों से छिपने की जगह भी। मैं आज भी मानती हूँ कि मातृत्व का दायित्व मैंने बखूबी निभाया।

इस रिश्ते में उलझनें नहीं थीं। यहाँ मेरा महत्व था। लेकिन माँ बनना मेरे लिए एक मुखौटा भी था, जिसकी आड़ में एक सत्य छुपा रहता था कि मैं भावनात्मक रूप से बिखर चुकी थी। और यही वह बिंदु था जहाँ से मेरी बारह वर्ष की अनिद्रा का सफ़र शुरू हुआ था। यह नवजात शिशुओं की ज़िम्मेदारियों के कारण नहीं था, प्रतिदिन

हो रही भावनात्मक पीड़ा इसकी वजह थी। यह दर्द इतना गहरा था कि थकान से भी आराम नहीं मिलता था।

पलंग के किनारे बैठकर रोना और वह रोना किसी को सुनाई पड़े, उसके पहले आँसुओं को पोंछना, हर रात की कथा थी।

आत्मबल के लिए मैं रातों में प्रार्थना करती थी। दिल में जमे बोझ इतने भारी थे कि रातों में चैन से सीधा लेटना भी संभव नहीं था। मेरे बच्चे मुझे संभाले भी हुए थे और एक बंधन में बाँधे हुए भी थे। इसलिए, हर बार जब मैं उन्हें देखती, मैं खुद से ही कहती:

"बस मैं एक दिन और ज़िंदा रह लूँ।"

फिसलती पहचान

मातृत्व पाने से पहले, वैवाहिक जीवन में बँधने से पहले, ज़िंदा रहने की जद्दोजहद करने से पहले मेरा एक और रूप था। वह रूप उन्मुक्त हँसी हँसता था।

उसके निजी विचार थे। उसके अपने सपने थे। उसका अपना प्रभाव-क्षेत्र था। वह रूप धीरे-धीरे ओझल होने लगा। अपनी पहचान बन चुके कपड़ों को मैंने पहनना बंद कर दिया। अपनी बात कहना बंद कर दिया। खुद की इच्छा बताना बंद कर दिया। भविष्य की कल्पना करना बंद कर दिया। अपने आप को ही पहचानना बंद कर दिया।

पहचान का खोना नाटक की तरह नहीं होता है, यह बहुत सफ़ाई से होता है। इतना धीरे-धीरे कि तुम्हारी जानकारी में आने से पहले ही तुम खुद को खो चुकी होती हो। और इस खोने के क्रम में संस्कारों का बोझ सबसे ऊपर आता है:

घर का माहौल मत अस्त-व्यस्त करो।

परिवार को शर्मिंदा मत करो।

विवाह मत तोड़ो।

तूने नींद खराब कर दी।

मैंने सभी की गरिमा की रक्षा के लिए अपनी इच्छाओं का हनन कर लिया।

अजब साथ

भावनात्मक दरार और साथ रहना अपने आप में नर्क जैसा अनुभव है। रसोईघर साझा, मगर जीवन नहीं। साथ-साथ बैठना, मगर आपसी संवाद नहीं। दिनचर्या समान, मगर गतिविधियाँ अलग-अलग। हम पति-पत्नी नहीं थे, केवल सह-अभिभावक थे, संग-संग रहने वाले, एक ही दर्द के मारे। किसी दिन बहस विस्फोट-सा लगता था |

किसी दिन सन्नाटा छाया रहता था। अधिकतर दिनों की गतिविधियाँ अनिश्चित होती थीं।

अगली भोर जैसी भी हो, उसका सामना करने के लिए मैं तैयार रहती थी।

नहीं पता होता अगला झगड़ा कब फूट पड़ेगा। इस परिवेश से बच्चों को प्रभावित न होने देने के लिए कई बार रास्ता नहीं सूझता था। शांति का माहौल नहीं था। यह भावनाओं की ज़मीन पर चुपचाप लड़ा जा रहा एक युद्ध था।

रहना-जाना, दोनों नामुमकिन

यह सबसे कटु सत्य था। मैं उस शादी में इसलिए नहीं टिकी रही कि मुझे उससे प्यार था। मैं टिकी रही क्योंकि मेरे पास जाने को और कोई जगह नहीं थी। मैं सात साल तक हर दिन अपने माँ-बाप से लड़ती रही। इसलिए नहीं कि वे मुझसे प्यार नहीं करते थे, बल्कि इसलिए कि वे समाज से, शर्म से, बदनामी से, 'लोग क्या कहेंगे' से डरे हुए थे। उनके शब्द डर, संस्कार और टूटे दिल का घालमेल थे:

"तालमेल बिठाओ।"

"और कोशिश करो।"

"बच्चों का भविष्य सोचो।"

"हम तुम्हें वापस नहीं ला सकते।"

"लोग क्या कहेंगे।"

"बच्चों के लिए रुको।"

"तुम ज़िंदगी कैसे काटोगी?"

"तूने हमारी नौंद हराम कर दी।"

मैं सिर्फ़ एक शादी के खिलाफ़ नहीं लड़ रही थी। मैं एक पूरी संस्कृति के खिलाफ़ लड़ रही थी।

वो संस्कृति जो बेटियों को सिखाती है कि दूसरों की शांति के लिए अपनी इच्छाएँ कुर्बान कर दो। मेरी तकलीफ़ किसी को दिखती नहीं थी। उनका डर सबको सुनाई देता था। और अपराध-बोध — सबसे भारी, सबसे ज़्यादा ग़िलानी की भावना — मुझे जकड़े हुए था।

ग़्लानि और मेरी चुप्पी

अपराध-बोध एक दिन में नहीं आया।

यह धीरे-धीरे आया। संस्कारों में लिपटा हुआ। चुप्पी से मज़बूत किया हुआ। एक ख़ानदानी विरासत की तरह जो मुझे सौंपी गई, पर जिसे अपना कहने को कोई तैयार नहीं था। मैंने इसे बातचीत के बीच के ख़ामोश पलों में सीखा। उन नज़रों में जो एक पल ज़्यादा टिक जाती थीं।

इस अपराध-बोध ने औरतों को सिखाया कि अपनी ज़रूरत बताने से पहले ही अपने औरत होने के लिए माफ़ी माँग लो। इसने मुझे सिखाया कि दूसरों का आराम मेरी ज़रूरतों से बड़ा है।

अपराध-बोध ने मुझे यह भी सिखाया: दूसरों के आराम के लिए जगह ख़ाली करो। दूसरे चैन से सो सकें, इसलिए तनाव को ख़ुद पी जाओ। ये कान में फुसफुसाता था कि हर किसी की तकलीफ़ की जड़ में मेरी ही ग़लती होगी। और अपराध-बोध

इतना चालाक है कि औरत की धड़कनों में समा जाता है। उसे यक्रीन दिला देता है कि वो हर उस कमरे के भावनात्मक माहौल की जिम्मेदार है जिसमें वो जाती है। पर अपराध-बोध रास्ता नहीं दिखाता। ये डर है, जिसे कर्तव्य का आवरण चिपका दिया गया है।

इसलिए, जब तक मैं शादी की उम्र तक पहुँची, अपराध-बोध मेरी अपनी आवाज़ से भी ऊँचा मेरे अंदर बोलने लगा था।

हर किसी की शांति मेरे सिर थी। जब मैं खुद बिखर रही थी, तब भी घर को समेटे रखने का ठेका मेरे नाम था। मुझमें अपराध-बोध था — अपने बच्चों का बचपन छीनने का, माँ-बाप के सपने तोड़ने का, पूरे खानदान में तनाव पैदा करने का। उस रिश्ते में असफल होने का कसूरवार मुझे ठहराया गया, जिस पर उँगली उठाने का हक मुझे कभी मिला ही नहीं।

छोड़कर जाने का खयाल आने का भी अपराध-बोध था।

मैं पहले से ही इस शर्म में दबी थी कि मैं जिंदगी के हर इम्तिहान में फेल हूँ।

मैं विश्वविद्यालय नहीं गई।

मैं अपने परिवार पर ज़रूरत से ज़्यादा बोझ थी।

इसलिए जब शादी टूटने के कगार पर आई, तो लगा यह आखिरी वार है जो मेरी कमर तोड़ देगा। लगा जैसे मैंने एक झटके में सबको हरा दिया — माँ-बाप को, बच्चों को, खुद को।

और इन सब अपराध-बोध के नीचे एक सच दबा था जिसे मैंने कभी नहीं कहा:

मैं ये मानकर बड़ी हुई कि मैं कम हूँ, इसलिए तलाक़ लेना लगा कि मैंने बेटी होने का सबसे बड़ा गुनाह कर दिया — ऐसा गुनाह जिसकी कोई माफ़ी नहीं।

यह अपराध-बोध तार्किक नहीं था। यह परंपरा था।

क्योंकि बेटियों को घुट्टी में पिलाया जाता है:

तुम्हारी खुशी को कैसे भी परिवर्तित किया जा सकता है।

तुम्हारी चुप्पी कर्तव्य है।

तुम्हारा दुःख सामान्य है।

मैं तब भी रुकी रही जब मेरा शरीर पस्त हो चुका था, जब मेरी हिम्मत जवाब दे चुकी थी, जब मैं खुद को भी नहीं पहचानती थी। मैं इसलिए रुकी रही क्योंकि उन्हें दुख देने का खयाल भी मेरे अपने दुख से बड़ा था। मैं सालों नींद खोती रही — एक ऐसी शांति को बचाने के लिए जिसने मुझे कभी नहीं बचाया।

अपराध-बोध ने मुझे चुप कराने की भरपूर कोशिश की।

और कई वर्षों तक वह सफल भी रहा। मैं चुप रही।

जब नींद नापी जाने लगी

2016 तक मुझे वैसी नींद कभी नहीं आई, जिसकी मैं प्रतीक्षा करती रही।

2010 से मैं ठीक से सोई नहीं थी। उस तरह की नींद नहीं, जो आपमें ताज़गी भर दे, शरीर को आराम दे और मन को शांत कर दे।

सालों से मेरी रातें चौकसी, झगड़ों, अपराध-बोध और आशंकाओं से टूटी हुई थीं।

तब तक नींद न आना कोई नई बात नहीं थी।

जो नई बात हुई, वह यह थी:

नींद अब मेरी निजी परेशानी नहीं रही। वह सबकी चीज़ बन गई — जिसे नापा गया, जिस पर पहरा दिया गया, जिसे हथियार की तरह इस्तेमाल किया गया।

मेरा हर फैसला, घरों के बीच की मेरी हर आहट, हर ठहराव, हर साँस — सच या सुरक्षा से नहीं, बल्कि इस एक बात से नापी जाती थी: मैंने “शांति” कितनी भंग की।

एक वाक्य था जो हर जगह मेरे साथ चला। वह बोला नहीं जाता था, पर लोगों की भंगिमाओं में, नज़रों में, नतीजों में हरदम मौजूद रहता था:

"तूने नौंद खराब कर दी।"

तुमने नौंद में खलल डाल दिया।

मानो नौंद कोई ऐसी चीज़ थी जो मैंने चुरा ली हो। मानो मेरी थकान मेरे गुनहगार होने का सबूत हो। मानो एक औरत का दर्द तभी दर्द कहलाए जब वह किसी और के शयनकक्ष की देहरी लाँघ जाए।

अपराध-बोध, कर्तव्य और रीति-रिवाजों की आज्ञा के नीचे मैंने एक सच्चाई दबाकर रखी थी। तब मैंने उसे कभी नहीं माना।

मुझे डर लगता था कि मैं अपने माता-पिता की ज़िंदगी तबाह कर रही हूँ, उनका चैन छीन रही हूँ, उनका दिल दुखा रही हूँ। मैं एक ऐसी ज़िंदगी जी रही थी जो उन्हें आधी रात के बाद भी जागने के लिए मजबूर कर रही थी।

मैं नहीं जानती थी कि हर रात जागना मुझे उस मोड़ पर ले जा रहा है जहाँ मेरा शरीर एकदम जवाब दे देगा। एक ऐसा पल भी आएगा जब ज़िंदगी और मौत, दोनों मेरे अगल-बगल खड़ी होंगी।

लड़कों के बिना: वह विनाशकारी रात

जब मैं पहली बार लड़कों को साथ लिए बिना अपने मायके आई, तो यह जल्दबाज़ी में लिया गया फ़ैसला नहीं था। यह सात साल हाशिए पर जीने का नतीजा था — सात साल खुद को समझाने के, सात साल खुद को कम आँकने के, सात साल नर्मी और सख्ती से एक ही बात सुनने के:

"सहती रहो।"

उन्होंने एक शर्त पर मुझे रहने दिया:

लड़कों की ज़िंदगी में कोई खलल मत डालना।

और मैंने खलल नहीं डाला। मैं हर दिन माँ का फ़र्ज़ निभाती रही — उन्हें स्कूल ले जाना और लाना, खाना बनाना और खिलाना, स्कूल से मिले सबक को पेराना, नहलाना, सोने से पहले कहानियाँ सुनाना।

वे सब काम करना जिनसे बच्चों को सुकून मिलता है, तब भी जब माँ भीतर से टूट रही हो।

और फिर, रात को मैं चली गई। उस पहली रात मैं अपने बचपन के कमरे में अकेली थी।

मैंने चुपचाप दरवाज़ा बंद किया और टूटकर बिखर गई। मेरी सिसकियाँ बेकाबू थीं — तेज़ और बेलगाम। ऐसा रोना सुकून देने के बजाय भीतर ख़ालीपन भर देता है।

ऐसा रोना एक औरत का तभी होता है जब वह ज़िंदगी का सबसे मुश्किल काम कर रही हो और फिर भी उसे लगे कि वह सबको निराश कर रही है। मैं खुद से ज़्यादा अपने बच्चों के हित को चुन रही थी। मैं ज़िंदा रहने को चुन रही थी।

पर, समाज की नज़र में इस फ़र्क़ का कोई मतलब नहीं होता।

एक माँ अपने बच्चों से दूर सो रही थी।

इस दुःख के नीचे वही एक वाक्य दबा था, जिससे मैं भली-भाँति परिचित थी:

"तूने नींद ख़राब कर दी।"

तूने घर का नियम-क्रायदा तोड़ दिया।

तूने सभी को परेशानी में डाल दिया।

तूने रात को भी विचलित कर दिया।

पर, वास्तविक सच को केवल मेरे माता-पिता ने देखा था। वह सच यह था कि हर रात लड़कों को छोड़कर जाना स्वार्थीपन नहीं था। यह गहरे, जानलेवा दर्द का प्रमाण था। यह नाटक करना नहीं था।

न यह कोई बगावत थी, न ही यह किसी ज़िंदगी का किसी की भी बात न मानना था।

यह एक औरत थी जो अपनी ज़िंदगी बचाने के लिए संघर्ष कर रही थी।

मेरी इस स्थिति को देखकर मेरे माता-पिता लगभग टूट चुके थे। उसी रात उन्हें समझ में आ चुका था कि मैं अपनी लड़ाई की तयशुदा राह से कभी वापस नहीं लौटूंगी। यह कोई यूँ ही गुजर जाने वाला दौर नहीं था। न यह गुस्सा था, न ज़िद थी।

यह उनकी बेटी थी जो टूटने की कगार पर खड़ी थी।

मेरी माँ सारी रात जागती रहती थी। मेरी चाभी की आवाज़ की प्रतीक्षा में पिता रात-भर गलियारे में चहलकदमी करते रहते थे।

उनकी हर रात एक मौन प्रार्थना बन गई, जिसे वे बार-बार दोहराते थे:

वह ठीक तो है?

वह संभाल पाएगी?

वह ऐसे कब तक ज़िंदा रह पाएगी?

मेरी बेनींद रातें उनकी रातों को भी बेनींद कर गईं। मेरे लड़कों ने इस तड़प को महसूस किया। मेरे माता-पिता ने यह सब सहा। मैं खुद इस दर्द का जीता-जागता रूप बन गई। यह जीवन का वह हिस्सा था जो दुनिया की नज़र में कभी नहीं आया। यह वह हिस्सा था जो सुखियाँ नहीं बना। यह वह हिस्सा था जिसे मैं भी उस समय लोगों से कह नहीं सकी।

सभी नींद इसलिए खो रहे थे कि मैं खुद ही अपनी पहचान खो रही थी।

और फिर भी — मैं हर रात जाती रही। ऐसा मैं अपनी इच्छा से नहीं बल्कि विवशता से करती थी। क्योंकि अगर रुक जाती तो शायद और जल्दी मौत हो जाती। रुकने पर नींद भी नहीं आती थी।

नींद आती भी तो कैसे?

मेरे घर का पता मेरे शरीर को नहीं था।

और हर रात जब मैं अपने बेटों के कमरे से बाहर निकलती तो मेरे सीने में एक सवाल सुलगता रहता:

अगर मैं उनकी नींद में बाधा डालूँ, तो क्या मुझे अपनी जिंदगी रखने का हक़ बचेगा?

कहानी की रीढ़

वे रातें, जिनकी कोई चर्चा नहीं करता, वही इस पुस्तक की भावनात्मक रीढ़ बन गईं।

लोग सोचते हैं कि मेरी कहानी की शुरुआत, तलाक़ के उपलक्ष्य में दिए गए भोज के समारोह से होती है।

या किसी समाचार की सुर्खियों से।

या मृत्यु के करीब हुई अनुभूति (NDE - Near Death Experience) से।

नहीं, इन सभी से शुरुआत नहीं हुई।

मेरी कहानी की शुरुआत उन रातों से हुई।

इच्छाओं, भावनाओं तथा ढर्रे पर चल रही जिंदगी का त्याग करने से, स्वयं को दोषी मानते हुए मेरे द्वारा लिए गए फ़ैसलों से, उस माँ के दो घरों में बँटने से, सिर्फ़ जिंदा रहने के लिए अपने माता-पिता का दिल तोड़ने वाली उस बेटी से, उस औरत से जो न किसी जगह सो पाती और न किसी जगह की हो पाती। मेरी कहानी की सही शुरुआत इन्हीं बिंदुओं से हुई।

यही वह सच्चाई थी जो, "तूने नींद ख़राब कर दी" के नीचे दबी हुई थी।

मैंने अपनी नींद खो दी।

मेरे बच्चों ने अपनी-अपनी नींदें खो दीं।

मेरे माता-पिता ने अपनी-अपनी नींदें खो दीं।

दो घरों के बीच: शरीर बेचैन रहा

उसके बाद जो हुआ वह स्थिरता नहीं थी, हालातों के बीच झूलते रहना था। दिन में, लड़कों की देखभाल के लिए मौजूद रहती थी। रात में मैं अपनी ही ज़िंदगी में मेहमान हो जाती थी। दो घर, अलग-अलग परिवेश, सुकून से साँस लूँ, इसके लिए जगह ढूँढ़ती थी। घर पर, मुझसे उम्मीद थी कि मैं सब सह लूँगी। माता-पिता के घर पर, मुझसे यही उम्मीद थी कि मैं सब कुछ सुलझा लूँगी। किसी ने भी यह नहीं पूछा कि आधा-आधा बँटकर जीने में कैसा अनुभव होता है। हर सवाल जल्दबाज़ी में जानकारी माँग रहे थे, मेरे प्रति परवाह किसी को नहीं थी।

ऐसा कब तक चलेगा?

तुम्हारी योजना क्या है?

आगे क्या होगा?

और हमेशा हवा में मँडराता हुआ अनकहा सच यह था:

यह ऐसे नहीं चल सकता। लोग सो नहीं पा रहे हैं। मानो आराम न मिलना ही सबसे बड़ी मुसीबत थी। मेरी रातें बस इतनी कि उड़ी-उड़ी रहती नींद, जागा-जागा रहता दिमाग। हर आहट पर, हर सन्नाटे पर मैं जाग उठती थी। नींद से भी आराम नहीं था। मैं इस थोड़ी-सी नींद के लिए भी दूसरों की कर्ज़दार थी।

किराए का मकान — स्वतंत्रता बिना शांति

अंततः मैंने लड़कों और अपने लिए एक मकान किराए पर लिया। बाहर से देखने पर यह तरक्की लगती थी।

जबकि भीतर से बस दुख का नया ठिकाना था। यह मिला था सालों की लड़ाई के बाद, जिसके लिए मैं ससुराल से ही नहीं, मायके से भी लड़ी थी। कुछ लोग मुझे प्यार तो करते थे, पर मेरे सच के नतीजों से डरते थे। मुझे उन्हें सालों सफ़ाई देनी

पड़ी, बरसों तक अपना दर्द पढ़ाना पड़ा। यह फ़्लैट सिर्फ़ मेरे आस-पास के कुछ लोगों की चुपचाप दिखाई गई हिम्मत के कारण मिल पाया। मेरा एक मित्र ज़मानतदार बनने के लिए तैयार हो गया।

मेरा परिवार किराए में मदद के लिए आगे आया, जबकि मैं अब भी एक और घर का क़र्ज़ चुकता कर रही थी।

मैंने अपने माता-पिता को समझाया कि यह छह महीने के लिए तात्कालिक समाधान है। मैंने उन्हें यह भी बताया कि हम आजमाइश के तौर पर अलग रह रहे हैं।

उन्हें इस प्रस्ताव में एक ठहराव, व्यावहारिकता और हालात को पलट सकने की गुंजाइश दिखी, इसलिए अनमने मन से वे मान गए।

इसलिए नहीं कि उन्हें इस पर भरोसा था, बल्कि इसलिए कि लगातार विरोध ने हम सबको थका दिया था।

पर अंदर ही अंदर मैं जानती थी कि मेरा शरीर इसे 'ट्रायल' या 'अस्थायी समाधान' नहीं मान रहा था। मेरी घड़कनों में, मेरी साँसों में — कहीं ठहराव नहीं था, सिर्फ़ बेचैनी थी।

मेरे शरीर का कोई भी हिस्सा यह मानने को तैयार नहीं था कि शादी सुधर सकती है।

यह कोई गहन सोच-विचार का निष्कर्ष नहीं था, बस हालात ही इतने साफ़-साफ़ थे।

कुछ दिन लड़के अपने पिता के पास रहते थे।

वे दिन मुझे तोड़ देते थे। मैं ऑफ़िस में खुद को संभाले रखती — काम करती, शांत और संयमित रहती — फिर कार में आकर बिखर जाती। इतनी ज़ोर-ज़ोर से रोती कि कार चलाना नामुमकिन हो जाता। साँसें अटक जातीं, हाथ काँपते। ऐसा दुख जिसका कोई गवाह नहीं होता। ख़ामोश फ़्लैट मेरे लौटने की प्रतीक्षा करता और

लौटने पर कमरे में गहरी खामोशी छाई मिलती। न दरवाज़े पर स्कूल बैग, न इधर-उधर बिखरे जूते, न शोर, न बिखराव। उस खामोशी में वही सवाल पीछा करता रहता:

"अगर मैंने उनकी नींद तोड़ दी, तो क्या मुझे अपनी ज़िंदगी जीने का हक़ है?

अलग होने से नई दरार नहीं पड़ी — इसने बता दिया कि दरार पहले से थी। किराए के फ़्लैट ने मुझे कमज़ोर नहीं किया, इसने स्थिति साफ़ कर दी। पहली बार इसकी क्रीमट सिर्फ़ मैं नहीं, हर वो शख्स देख रहा था जो मुझे उधार की हिम्मत और टूटे दिल के सहारे ज़िंदगी जोड़ते देख रहा था। बावजूद इसके, मैं बिखरी नहीं।

मैं ज़िंदगी में सक्रिय बनी रही। बच्चों का पालन-पोषण किया। जितना बन पड़ा, मैंने दिया। अपराध-बोध को विरासत की तरह ढोती रही। पर कुछ बुनियादी बदलाव हुए। मुझमें न सुकून की चाह जगी, न आज़ादी की — एक भरोसा जगा। खुद पर। यह भरोसा शोर नहीं करता, पर दिल-दिमाग़ से जाता भी नहीं। शादी टूट चुकी थी। ऐसा नहीं कि ये मेरी मर्जी थी। बल्कि इसलिए कि शादी निभाने की क्रीमट — जो भी मेरे पास था, सब — मैं चुका चुकी थी।

पीछे नहीं — भीतर की तरफ़ लौटना

जब हम ससुराल के घर वापस लौटे, तो मैं किसी उम्मीद के साथ नहीं आई थी। मुझे मजबूरी लाई थी।

समझदारी भी यही थी कि कुछ क़दम अभी खुलकर नहीं उठाए जा सकते थे। रिश्तों के कुछ ढाँचों को फ़िलहाल बचाकर रखना होगा। इस दौर में दिखावा सच से ज़्यादा मायने रखता था। किसी ने ये ज़ोर से कहा नहीं।

उन्हें कहने की ज़रूरत भी नहीं थी। मैं लौटी क्योंकि मेरे पैरों तले ज़मीन खिसक चुकी थी। वहीं खड़े रहना, दूर धकेले जाने से ज़्यादा सुरक्षित था। पर मेरे शरीर को वो बात समझ आ गई थी जिसे मेरा दिमाग़ अब भी ढाल रहा था।

लौटने से सुकून नहीं आया। इसने दरार को और गहरा कर दिया। नींद पूरी तरह उड़ गई। क्योंकि अब मैं सिर्फ दर्द के लिए नहीं जाग रही थी, नतीजों के लिए जाग रही थी।

छठे अध्याय का अंत

_जो अपराध-बोध मुझे जकड़े हुए था, वो शादी जितना ही सख्त था। ये अध्याय राहत या ताकत पर खत्म नहीं होता। ये उस टकराव पर होता है जो हड्डियों में उतर जाता है।

इन वर्षों के अंत तक मैं सिर्फ एक टूटी शादी का बोझ नहीं ढो रही थी, बल्कि अपने परिवार के सपने को तोड़ने का बोझ भी ढो रही थी।

और वह अपराध-बोध अपने आप में एक कारावास बन गया। जिन रातों में मुझे नींद नहीं आती थी, उसका कारण सिर्फ घर के झगड़े नहीं थे। एक प्रमुख वजह यह भी थी कि मैं एक डरी हुई बेटी थी, जिसने सबको निराश कर दिया। हमारे समाज में बेटी का दुःख तो सह लिया जाता है, पर उसका वापस घर लौट आना नहीं।

और इस तरह मैं एक भावनात्मक तिकोने में घिर गई:

मेरी शादी।

मेरे बच्चे।

मेरे माता-पिता।

मेरी शादी ने मुझे निचोड़ दिया था।

मेरे बच्चों को मेरी ज़रूरत थी।

और मैं, बीच में फँसी, सबको सुकून देने की ज़िम्मेदारी खुद पर महसूस करती थी। मेरे माता-पिता मुझे आहत करना नहीं चाहते थे।

उनकी अपनी दुनिया थी, जो इस सोच में विश्वास करती थी:

"अगर तुम्हारी बेटी शादी का रिश्ता छोड़ दे, तो तुम ज़िंदगी में असफल हो गए।"

इसलिए जब मैं सालों तक हर दिन रोती थी, तब भी उनका डर मेरे दर्द से ज़्यादा मुखर था। हर बार उनकी हिचकिचाहट में, हर ख़ामोशी में, उनकी हर सलाह में — "तालमेल बिठाओ", "बच्चों के बारे में सोचो", "लोग क्या कहेंगे", "तुमने उसी से शादी की — अब निभाओ" — एक ही संदेश सुनाई देता था:

"हमारा सुकून मत तोड़ो।

तूने नींद खराब कर दी।"

यह अपराध-बोध मेरे लिए दिल टूटने जितना ही गंभीर था, जिसे मैं ढोती रही।

अपराध-बोध कि मैं अपने माता-पिता को नाकाम कर रही थी।

अपराध-बोध कि मैं अपने बच्चों को नाकाम कर रही थी।

अपराध-बोध कि मैं अपनी संस्कृति को नाकाम कर रही थी।

अपराध-बोध कि मैं खुद को नाकाम कर रही थी।

एक औरत दर्द बर्दाश्त कर सकती है। पर अपराध-बोध?

अपराध-बोध उसका दम घोंट देता है।

और फिर भी, उस घुटन के तले, मेरे अंदर कुछ और चुपचाप आकार लेने लगा:

ताक़तवर होना नहीं।

बहादुर बनना नहीं।

साफ़-साफ़ दिखना नहीं।

बस यह समझ में आना — कि मैं कौन हूँ।

एक सच जो आख़िरकार सतह पर आया:

मैं अपनी शादी नहीं बचा सकी।

मैं अपने माता-पिता की प्रतिष्ठा नहीं बचा सकी।

मैं अपनी नींद कुर्बान करके सबकी नींद नहीं बचा सकी।

कुछ न कुछ तो बदलना ही था — और उसे बदलने की ताकत बस मुझमें थी।

इस तरह पुस्तक का छठा अध्याय यहीं खत्म होता है। एक औरत दोहरे दर्द के मोड़ पर खड़ी है:

जहाँ एक रास्ता खुद के टूटने का है, और दूसरा सबको तोड़ देने का है।

और सालों बाद पहली बार,

मन में एक धीमी-सी आवाज़ ने हिम्मत कर सिर उठाया: "हो सकता है तुम्हारी शांति भी ज़रूरी हो।"

एक फुसफुसाहट, इतनी धीमी कि अनसुनी की जा सकती है, मगर इतनी मज़बूत कि हमेशा बनी रहती है।

वही फुसफुसाहट जीवन के अगले अध्याय का प्रवेश-द्वार बनती है।

और अंततः वह सत्य जिसे बोलने की अनुमति मैंने खुद को दी:

मैंने शांति नहीं भंग की। मैंने उस चुप्पी को तोड़ा, जो धीरे-धीरे मुझे ही मार रही थी।

अध्याय 7

एक जंग परिवार और कानून दोनों से

तलाक़ कभी भी केवल एक मोर्चे पर लड़ी जाने वाली लड़ाई नहीं होती। अंतर्मन, समाज, कानून, भावनाएँ — कई मोर्चों पर एक साथ लड़ने की विवशता। एक मोर्चा संभालता नहीं कि दूसरा खुल जाता है — साँस लेने की मोहलत नहीं। लोग सोचते हैं कि जिस दिन आप हिम्मत करके बोल दें, "मैं इस रिश्ते से बाहर आना चाहती हूँ", उसी दिन से सब खत्म होना शुरू हो जाता है।

ऐसा नहीं है। मेरे लिए यह वाक्य रिश्तों से रिहाई से शुरू नहीं हुआ। जंग तो सालों से चुपचाप चल रही थी। मेरी लड़ाई उससे नहीं थी — मेरे चारों तरफ मौजूद दुनिया से थी। एक देसी औरत जब तलाक़ को चुनती है, तो शादी के साथ-साथ संपूर्ण संस्कृति, परिवार की उम्मीदों, पीढ़ियों की सोच और शांति से चल रही पारिवारिक व्यवस्था को चुनौती देती है।

शर्म, प्रतिष्ठा, कर्तव्य — और मेरे मामले में तो वह अदालतों को भी चुनौती देती है। जीवन का वह अध्याय है जहाँ सालों से संभालकर रखा हर कुछ बिखरना शुरू हुआ। इसलिए नहीं कि मैं कायर थी।

बल्कि इसलिए कि मैं आखिरकार सच बोल रही थी।

माता-पिता की स्वीकृति — नई जंग की शुरुआत

माता-पिता की सहमति प्राप्त करना कोई राहत नहीं थी। यह उत्सव का माहौल नहीं था। उनका 'साथ' समर्थन नहीं था, जैसा लोग सोचते हैं। जिन दो लोगों को मैं सबसे अधिक प्यार करती थी, उनसे सात सालों की लड़ाई का अंत था और एक नई जंग का आरंभ था, जिसके लिए मैं कभी तैयार नहीं थी। सालों तक मुझे यही सुनने को मिला:

"घर मत तोड़ो।"

"लोग क्या कहेंगे।"

"बच्चों के बारे में सोचो।"

"हर वैवाहिक जीवन में परेशानियाँ होती हैं।"

"कोशिश करती रहो कि सब ठीक हो जाए।"

"भावुक मत बनो।"

"हड़बड़ी में निर्णय मत लो।"

"तुम सब बर्बाद कर दोगी।"

मेरा रोना, उन्हें अपनी व्यक्तिगत हार लगता था।

जब मैं जिंदगी के लिए जूझ रही थी, मेरे माता-पिता मेरी तकलीफ समझने के बजाय हर पल समाज से डर रहे थे।

धीमे स्वर में होने वाली हमारे अलगाव की बातों से भी उन्हें लगता था कि मैं संपूर्ण परिवार की इज़्जत अपने साथ सरेआम घसीट रही हूँ।

समाज का घाव और गहरा हो गया, और समाज ने फिर कहा:

"तूने हमारी नींद उड़ा दी।"

"तूने हमारी शांति भंग कर दी।"

"सभी समस्याओं की जड़ तू है।"

ये बातें सीधे-सीधे तो नहीं कही गईं, लेकिन ख़ामोशी में भी मैंने सुना। उनकी हिचकिचाहट में मैंने महसूस किया। और अपराध-बोध को अकेले डोती रही।

आखिरकार वे मेरी बातों से सहमत हुए। इसका अर्थ यह नहीं था कि मेरा दर्द कम होने लगा था, बल्कि वे समझ चुके थे कि मैं जी नहीं रही हूँ, टूटकर बिखर रही हूँ। वे साथ तो आए, मगर भयभीत थे।

इसी भय के साथ, एक नई जंग शुरू हुई — कानून के मोर्चे पर।

तलाक़ लेने के दौरान साथ रहना — कोविड ने दायरे को सीमित कर दिया

तलाक़ की प्रक्रिया के दौरान एक ही छत के तले रहना किसी भी वक़्त भावनात्मक रूप से दमघोटू होता है। कोविड के दौरान तलाक़ की माँग, एक अलग दुनिया की बात थी।

कैफ़े जाकर साँस लेने की, किसी दोस्त के सोफ़े पर बैठकर बातें करने की, खुली हवा में साँस भरने की, या भावनात्मक दूरी बनाने के लिए लंबी ड्राइव पर निकल जाने की — कोई गुंजाइश ही नहीं बची थी। दिन-ब-दिन, पल-पल, हम एक ऐसी शादी को जी रहे थे जो सालों पहले मर चुकी थी। हम दो इंसान नहीं, कमरे की चार दीवारें बन चुके थे।

घुटन भरी शादियों में फँसी औरतें छोटी-छोटी आज्ञादियों के सहारे ज़िंदा रहती हैं — बच्चों को स्कूल छोड़ने जाना, कार में चंद पल अकेले गुज़ारना, घर की दुनिया से बाहर की दुनिया में कदम रखना। कोविड ने ये सब छीन लिया।

सब कुछ एक बोझिल, दमघोटू ज़िंदगी में धुँधला गया। हर सुबह मैं जागती और यही सोचती:

"मैं अब भी यहीं हूँ।"

उसी घर में, उसी आदमी के साथ, उसी ज़िंदगी में — जिससे कानूनी तौर पर रिश्ता तोड़ने की कोशिश कर रही हूँ।

और नींद, जो मेरी ज़िंदगी में बची-खुची एकमात्र राहत थी, उसने भी मेरा साथ छोड़ दिया।

बारह सालों से यही कहानी थी — रातें बिखरी हुई, दिमाग में बवंडर, सीने पर बोझ, और आँसुओं से भीगा तकिया।

पर कोविड के दौरान ये बेनूर रातें और चुभने लगीं।

"तूने नींद खराब कर दी" — अब ये सिर्फ इल्ज़ाम नहीं था। ये मेरी हकीकत थी।

हम सबकी नींद उड़ चुकी थी।

अंधेरे में कागज़ी कार्रवाई

दिन के उजाले में:

मैंने काम किया।

मैंने बच्चों को पाला।

मैंने खाना बनाया।

मैंने सफ़ाई की।

मैंने मिज़ाज संभाले।

मैंने घर को बाँधे रखा।

मैं एक ऐसे इंसान के इर्द-गिर्द साँस लेती रही —

जिससे मैं तलाक़ लेने की कोशिश कर रही थी।

उन शामों में वह घर पर मौजूद रहता था। उसी समय बच्चों को मेरी सबसे ज़्यादा ज़रूरत होती थी। घर का माहौल बेहद नाजुक था। ऐसे परिवेश में कानून से जुड़ी बातें छेड़ना नामुमकिन था। रात ही एकमात्र समय था जब मैं अपने भविष्य की लड़ाई के लिए इत्मीनान से बैठ पाती थी। इसलिए रात एक बजे, दो बजे, तीन बजे मैं लैपटॉप खोलती और काम में जुट जाती:

बयान

न्यायालय के फॉर्म

आर्थिक खुलासा

वकील के ई-मेल

साक्ष्य की फ़ाइलें

अर्जियाँ

अंतिम तिथियाँ

सबूतों की सूची

यह सब तब करना पड़ता था, जब घर का हर दूसरा शख्स सो रहा होता था।

और इन्हीं घंटों में यह वाक्य दर्दनाक हद तक सच साबित होता था:

तूने नींद खराब कर दी।

सब यही कहते थे कि मैंने शांति भंग की, जबकि मैं अपनी ज़िंदगी बचाने के लिए अपनी नींद कुर्बान कर रही थी। थकी और काँपती आवाज़ में मैं फ़ोन पर अपनी बहन से फुसफुसाकर बात करती। हम दोनों कागज़ों पर इस तरह झुकी रहतीं, मानो हर पंक्ति पर हमारी ज़िंदगी टिकी हो।

वह रात-दर-रात मेरे साथ जागती रही। मेरा भय बाँटती रही। मेरी घबराहट झेलती रही।

वह उन रातों की नींद गँवाती रही, जिसे गँवाने की उसे कोई ज़रूरत नहीं थी।

यह महज़ साथ देना नहीं था, यह एकजुटता थी।

दो बहनें एक ऐसा सच ढो रही थीं, जिसका सामना करने को और कोई तैयार नहीं था।

अदालत में हार — घर वापस लौटना

यदि आपने स्वयं जीवन के ऐसे पल को जिया न हो तो इस तरह के अपमान को आप समझ नहीं सकतीं। वैश्विक महामारी के दौर में चल रहे एक मुकदमे की सुनवाई हारना और फिर उसी आदमी के साथ उसी घर में लौट आना, जैसे कुछ हुआ ही न हो।

कल्पना कीजिए:

आप एक वर्चुअल सुनवाई में लॉग इन करती हैं।

आप अपना सच रखती हैं।

आप अपने सबूत प्रस्तुत करती हैं।

आप अपने अंदर की बची हुई ताकत की आखिरी बूँद तक से बोलती हैं।

न्यायाधीश की आवाज़ आती है:

"नहीं"।

फिर कॉल कट जाती है।

न बाहर से आती कोई ताज़ी हवा है।

न कार तक वापस चलकर जाने का एकांत रास्ता।

न कोई कैफ़े है, जहाँ जाकर टूट सकें।

न किसी दोस्त का घर।

न अकेले में रोने का एक पल।

आप लैपटॉप का ढक्कन बंद करती हैं और उसी घर के गलियारे में पाँव रखती हैं, जिसे आप छोड़ने के लिए अदालतों में कोशिश कर रही हैं। रसोई में केतली का पानी उबल रहा है।

बच्चों को रात का खाना चाहिए।

जीवन अपने ढर्रे पर चलता रहता है, मानो अभी-अभी स्क्रीन पर आपकी दुनिया के टुकड़े हुए न हों। कई बार मैं अपने घर के बाहर अपनी कार में लगभग बीस मिनट तक बैठी रहती थी ताकि घर के अंदर सामान्य दिखूँ, उससे पहले बस अपनी साँसें संभाल लूँ।

कोविड ने प्रत्येक पराजय को एक जाल बना दिया। और समाज की वही सोच फिर से चाकू की तरह चुभ गई:

"तुमने घर उजाड़ दिया।"

"यह सब तुम्हारी वजह से हुआ है।"

"तूने नींद खराब कर दी।"

लेकिन सच?

मैं किसी की नींद खराब नहीं कर रही थी।

मैं ऐसी रातें काटते हुए जी रही थी कि वैसी रातें झेलने की नौबत किसी और की जिंदगी में न आए।

वे वर्ष जब मैं हर मुकदमा हार गई।

2018 से 2021 की शुरुआत तक, मैं हर सुनवाई हारी। हर नतीजा मेरी गरिमा, मेरे सच, मेरे विवेक पर दिया गया फैसला-सा लगता था। और हर हार के बाद, मैं एक ऐसा अपराध-बोध ढोती थी जो कभी मेरा था ही नहीं।

शायद मैं ही सुकून बिगाड़ रही हूँ।

शायद मैं ही उनकी नींद खराब कर रही हूँ।

शायद मैं ही समस्या हूँ।

"तूने नींद खराब कर दी।"

इस पंक्ति की गूँज खामोशी के साथ हवा में तैरती रही, मगर उस बात को किसी ने भी ऊँची आवाज़ में नहीं कहा। लेकिन, मैंने हर जगह महसूस किया — लोगों की नज़रों में, उनके बर्ताव में, फैसलों में, बंद दरवाज़ों के पीछे मेरी चर्चाओं में। पर, हृदय की गहराइयों में, थक कर चूर होने के बाद भी, दिमाग सुन्न पड़ने के बाद भी, सब कुछ हार जाने के बाद भी एक ज़िंदी चिंगारी बुझी नहीं।

मैं ग़लत नहीं हूँ।

मैं भ्रमित नहीं हूँ।

मैं अस्त-व्यस्तता पसंद नहीं हूँ।

मैं बस वह हूँ जो चुपचाप मरने से इनकार करती है।

संभव है मैं मुकदमा हार चुकी होऊँ, लेकिन मैं खुद नहीं हारी। यह बात कागज़ पर लिखी हर बात से अधिक मायने रखती थी।

जब आखिरी सुनवाई समाप्त हुई, तो ज़िंदगी में ऐसा परिवर्तन आया जहाँ से वापस नहीं लौटा जा सकता था। न्यायाधीश ने अंततः वही शब्द कहे, जिनकी कामना अंतरात्मा पिछले बारह वर्षों से फुसफुसाते हुए कर रही थी:

"बस, बहुत हुआ।"

तलाक का अंतिम अदालती आदेश कुछ हफ्तों बाद आया। तारीख थी, 17 मार्च, 2021। इस तारीख ने मेरे वैवाहिक रिश्ते के खत्म होने की विधिवत घोषणा तो कर दी, मगर मेरी भावनात्मक थकान खत्म नहीं कर सकी। लोग कल्पना करते हैं कि औरतें तलाक के कागज़ पाते ही उत्सव मनाती हैं।

मैंने जश्न नहीं मनाया। मैं भावशून्य हो गई थी। बारह वर्ष तक:

मेरी ज़िंदगी अस्त-व्यस्त रही —

कार में रोते हुए,

चुपचाप रोते हुए,

बिना यह समझे रोते हुए कि दर्द का अंत कभी होगा भी या नहीं।

बारह वर्ष तक पूरी नींद न मिलने के कारण मेरा शरीर नींद से रिश्ता ही भूल चुका था। आराम करने की आदत भूल चुका था। सुकून पर यकीन करना भूल चुका था। और जब न्यायाधीश ने मुझे वैवाहिक बंधन से मुक्त किया, तो राहत तो मिली, मगर शरीर को समझ नहीं आया कि अब क्या करे। राहत भी एक भाषा है, जिसे तुम भूल जाते हो जब शादी का हर साल एक भय के साए में गुज़ारना सिखाया गया हो। स्वाभाविक रूप से, जश्न की जगह मैं कुछ और महसूस करने लगी:

अब क्या?

ज़िंदगी की जंग के बिना मेरे जीवन का उद्देश्य क्या?

मैं चैन की नींद सोऊँ कैसे, जब मेरे शरीर ने हमेशा सिर्फ़ ज़िंदा रहना सीखा हो?

'तूने नींद खराब कर दी'

अब यह सिर्फ़ संस्कारों की प्रेत-छाया नहीं था, यह मेरे शरीर का सच था।

लड़ाई-झगड़ों के बिना घर

अलगाव के बाद घर में भिन्नता तो महसूस हो रही थी, मगर शांति का परिवेश नहीं था। माहौल शांत था, मगर शांति की भावना नहीं थी। चारों ओर एक खालीपन। कमरे अजनबी-से लग रहे थे, मानो मुझे अब पहचानते ही नहीं।

सालों तक मैं 'लड़ो या भागो' की मनःस्थिति में जीती रही। जंग खत्म होते ही तुम आराम की लंबी साँस नहीं छोड़ देते।

तुम दोबारा साँस छोड़ना सीखती हो — धीरे-धीरे, डरते-डरते, इस आशंका के साथ कि बवाल खड़ा करने वाला कोई मुद्दा बस कोने में है।

यह अपराध-बोध उससे संबंधित नहीं था जिसे मैं ढो रही थी। मैं स्वयं को अपने माता-पिता, उनके सपने, उनकी उम्मीदें, उनकी इज़ज़त, उनका डर, उनके

संस्कारगत परिवेश को चोट पहुँचाने के लिए अपराधी मान रही थी। मैं पूरे बारह वर्ष तक उस अनकहे आरोप को ढोती रही:

तूने नौंद खराब कर दी — तुमने हमारी नौंद, हमारी शांति, हमारी प्रतिष्ठा सब खराब कर दी।

पारिवारिक तनाव से आज़ाद होने के बावजूद वह अपराध-बोध मेरे कान में फुसफुसाता रहा।

तलाक के बाद भी अपराध-बोध

भारतीय महिलाओं को ऐसे संस्कार दिए जाते हैं कि अपने जीवन की शांति छोड़कर शेष सभी के आराम की चिंता करें।

इसलिए तलाक के बाद भी मैं उन विषयों पर अपराध-बोध से ग्रस्त रही, जहाँ मुझसे अपराध होना ही नहीं चाहिए था:

संबंध छोड़ने का अपराध।

इतने लंबे समय तक रुके रहने का अपराध।

बेटों के प्रति अपराध।

माता-पिता के प्रति अपराध।

समाज की फुसफुसाहटों का कारण बनने का अपराध।

उन उम्मीदों का अपराध, जिनके लिए मैं कभी राज़ी ही नहीं थी।

सच बोलने का अपराध।

और इन सबके नीचे,

सबसे भारी अपराध:

क्या मैंने अपनी आज़ादी के लिए लड़कर सबकी नौंद खराब कर दी?

यदि मैंने किसी की शांति भंग भी की, तो इसलिए कि मेरे जीवन में खुद की शांति भी वर्षों से नहीं थी।

शांति को पाने की कोशिश स्वार्थ नहीं था।

यह ज़िंदा रहने की जद्दोजहद थी।

उजालों में नहीं, परछाइयों में फिर से बनना

तलाक़ मिलने के बाद ज़िंदगी में नया बनना शुरू नहीं हुआ। वो शुरू हुआ उन खामोश पलों में जो आम तौर पर ताकत देते नहीं दिखते — जैसे पहली रात जब मैं 2 घंटे की बजाय 4 घंटे सोई, पहली सुबह जब जागने पर खौफ़ महसूस नहीं हुआ। पहला दिन जब मैंने अपनी आज़ादी से कोई फैसला लिया। पहली हँसी जो उधार की नहीं लगी। पहली साँस जिसमें दर्द घुला हुआ नहीं था। मैं खुद टूटते हुए भी अपना करियर बना चुकी थी। चुपचाप बिखरते रहने के बावजूद अपने बेटों का लालन-पालन कर चुकी थी। मैं बारह साल की उथल-पुथल, आरोपों, उलझनों और सांस्कृतिक अपराध-बोध से बचकर निकल चुकी थी। और अब मैं धीरे-धीरे, खामोशी से, संभलकर खुद को दोबारा बना रही थी।

तूने नींद खराब कर दी —

बिना बोले यह वाक्य मेरी शादी, मेरे परिवार, मेरे समाज, मेरी अदालत — हर जगह मेरा पीछा करता रहा।

पर अब, पहली बार, मैं अपनी शर्तों पर सोना सीख रही थी। और इस चुपचाप फिर से बनने में, वह औरत लौट रही है जिसे ज़िंदगी से मिटा दिया गया था।

अध्याय 8

वह रात जब जंग खत्म हुई

एक सोच आई और सब कुछ बदल गया

यह खयाल धीरे से नहीं, एक हँसी की तरह आया — तेज़, अनपेक्षित, अकाट्य। अगर इसे मैं असफलता की तरह न देखूँ तो? अगर तलाक़ को छुपाकर न रखूँ तो? अगर ज़िंदा बचना ही कुछ ऐसा हो जिसका जश्र मनाना चाहूँ तो?

यह खयाल ग़ज़ब का था। इसी से मैं समझ गई कि यह मायने रखता है।

हिंदुस्तानी औरतों को चुपचाप बर्दाश्त करना सिखाया जाता है। उन्हें सब कुछ त्यागना, चुपचाप ज़िंदा रहना, तथा किसी भी बात पर जश्र नहीं मनाना सिखाया जाता है।

तो मैंने वही कदम उठाने का निर्णय लिया जो उन हर नियमों को तोड़ देता था, जिनके साए में मैं जीती आई थी।

मैं अपने ज़िंदा बचने का एलान जश्र मनाकर करूँगी।

वह योजना जिसके मुताबिक मुझे कभी काम नहीं करना था।

एक बार फैसला हो गया तो डगमगाई नहीं। यह न तो दबने वाला था, न शालीन और न ही छुपाने की चीज़ थी।

यह देखने लायक होगा। एक शानदार जश्न होगा। अतीत का मज़ाक उड़ाने के लिए नहीं, बल्कि जंग के ख़त्म होने का जश्न मनाने के लिए। मैंने रंग जानबूझकर चुने थे:

तेज़, शोर भरे, बेबाक, ज़िंदादिल।

मुझे जिस तरह की औरत बनना सिखाया गया था, मेरा यह निर्णय उससे ठीक उल्टा था।

एक यूनिकॉर्न केक — चुलबुला, बेतुका, बागी।

खुशी को बचकाना या ग़ैर-हक़दार मानने से इंकार।

एक यूनिकॉर्न बाउंसी कैसल, क्योंकि गंभीरता ने मुझे लगभग तबाह कर दिया था।

इसलिए खेलना बेकार की चीज़ नहीं होता है। यह मरम्मत है। उस दिन हर छोटी-बड़ी बात एक ही संदेश दे रही थी:

मैं सिमटना बंद कर चुकी हूँ।

मैं माफ़ी माँगना बंद कर चुकी हूँ।

इल्ज़ाम ढोना बंद कर चुकी हूँ।

सबकी रातें सँभालना बंद कर चुकी हूँ।

वह रात जब मेरा शरीर आखिरकार हथियार डाल बैठा

वह रात अफ़रा-तफ़री वाली नहीं लगी। यूँ लगा मैं खुद के साथ खड़ी हूँ। तेज़ संगीत था, बेलगाम खुशियाँ थीं और औरतें उन्मुक्त हँसी हँस रही थीं।

और फिर कुछ असाधारण हुआ। मेरे शरीर ने चौकन्ना रहना बंद कर दिया। बारह सालों में पहली बार मैं पलटवार की आशंका नहीं कर रही थी। मैं प्रतिक्रियाओं का हिसाब नहीं लगा रही थी। मैं किसी और के सुकून की व्यवस्था नहीं कर रही थी।

मैं महज़ ज़िंदा नहीं बची रह रही थी, मैं मौजूद थी। मैं रोई नहीं। मेरे पाँव काँपे नहीं।
मैं टूटी नहीं। मैंने लंबी साँस छोड़ी। यह ग़म नहीं था।

यह रिहाई थी। उस रात नाचने वाली औरत तलाक़ का जश्न नहीं मना रही थी।

वह एक जंग ख़त्म कर रही थी।

और पहली बार, सचमुच, मेरी वज़ह से किसी की नींद नहीं उड़ी।

क्योंकि बारह वर्षों में पहली बार, मैं उसे ढो नहीं रही थी।

हफ़्ते भर बाद की सुबह

मुझे लगा था कि पार्टी ही वह अहम पल है।

मैं ग़लत थी।

वह पल एक सप्ताह बाद आया। मेरा फ़ोन फट पड़ा। मैसेज, टैग, लेख, व्हाट्सएप
चेन — एक बाढ़ सी आ गई।

फिर सुर्खियाँ।

ब्रिटिश मीडिया।

...फिर भारत।

हैदराबाद क्रॉनिकल।

शी द पीपल।

क्षेत्रीय अख़बार।

जिसे मैंने अपनी निजी लड़ाई समझा था, वह सामाजिक बात बन गई। लोगों ने
खुलकर प्रतिक्रियाएँ दीं।

पर औरतों ने इसे गहराई से लिया। एक मैसेज में लिखा था:

"इन घटनाओं की जानकारी से मुझे बेहतर नींद आई।"

तभी बात पहुँची।

यह किसी पार्टी के बारे में नहीं था।

यह इजाज़त की बात थी।

और तभी मैं विडंबना समझी। मेरी पूरी ज़िंदगी एक ही बात मानने में बीती: संतुलन मत बिगाड़ो। तूने नौद खराब कर दी — घर की शांति मत भंग करो, परिवार को अस्त-व्यस्त मत करो, किसी की नौद की वजह मत बनो। मैं सालों इन नियमों पर चली। और फिर भी, मैंने एक बार फिर संतुलन बिगाड़ा — इस बार घर के अंदर नहीं बल्कि बहुत बड़े दायरे में। जो बात सालों तक सिर्फ़ निजी स्तर तक दबी थी, वह दुनिया भर में सार्वजनिक हो गई, लोग देखने-समझने लगे। एक बार फिर मैं सोई नहीं। पर इस बार ख़ामोशी से मेरा नुक़सान नहीं हुआ।

गुस्सा, पहचान और वो लकीर

लोगों का गुस्सा तय था।

उसकी हिम्मत कैसे हुई?

एक भारतीय औरत तलाक़ का ज़श्र कैसे मना रही है?

उसे शर्म भी नहीं आई?

मैंने कोई जवाब नहीं दिया।

मैंने सफ़ाई नहीं दी।

मैंने खुद को नरम नहीं किया।

क्योंकि गुस्से भरी प्रतिक्रियाओं के साथ-साथ कुछ और ताक़तवर चीज़ें भी आईं।

सालों से ख़ामोश रहीं औरतों के मैसेज थे:

"तुमने हमारे अंदर बदलाव ला दिया।"

"तुमने वह कह दिया, जिसे कहने की इजाज़त हमें कभी नहीं थी।"

"तुमने हमारा अकेलापन हल्का किया।"

"तुमने बताया कि मुझे हमेशा यही हालत नहीं सहने चाहिए।"

तभी मैं समझी:

यह उकसाना नहीं था।

यह मेरी पहचान बनना था।

"लोगों ने समझा कि मैं शादी टूटने का जश्न मना रही हूँ।

उन्हें यह नहीं पता था कि मैं उस चीज से बचकर ज़िंदा रहने का जश्न मना रही थी,
जो लगभग मार ही चुका था:

अगर मैं उनकी नींद में खलल डालूँगी, तो क्या खुद बच पाऊँगी?"

दिशा बदलना

वह रात एक अध्याय का अंत नहीं थी। इसने मेरे जीवन की दिशा ही बदल दी।

निजी ज़िंदगी बचाने से सार्वजनिक सच तक।

खामोशी से आवाज़ तक।

सहने से आगे बढ़ने तक।

औरतें सिर्फ़ तमाशा नहीं देख रही थीं। वे एक ऐसी आवाज़ का इंतज़ार कर रही थीं
जिसने यह सब झेला हो। इसलिए मैं आगे आई।

संभलकर नहीं।

धीरे से नहीं।

साफ़-साफ़। और इसी साफ़ई से जो उभरा, उसे टाला नहीं जा सकता था।

ये सोनिया वाली बात है।

बाज़ार का कोई ब्रांड नहीं।

चुपचाप घुट-घुटकर जीने से इनकार।

जंग के बाद

सितंबर 2021 तक, मैं पहले वाली नहीं रह सकती थी। इसलिए नहीं कि सबकी नज़र मुझ पर थी, मीडिया मेरे पीछे था — वजह ये थी कि मैंने अपने अंदर एक लकीर पार कर ली थी। बारह साल तक मैं इसी भरोसे के साथ जीती रही कि मेरी सच्चाई दूसरों की नींद खराब कर रही थी।

जंग खत्म हो चुकी थी।

और पहली बार, नींद मेरी कीमत पर नहीं आई। उस रात के बाद जो औरत आगे बढ़ी

वो बेपरवाह नहीं थी। वो गुस्सैल नहीं थी। वो सिरफिरी नहीं थी।

वो सजग थी।

वो अपने पैरों पर खड़ी थी।

वो आखिरकार — बिना किसी शक के — सोनिया थी।

मुझे सच में लगता था कि मेरी कहानी का सबसे मुश्किल हिस्सा बीत चुका है।

मुझे ज़रा भी अंदाज़ा नहीं था कि चार साल बाद मौत दरवाज़ा खटखटाए बगैर, सीधे अंदर चली आएगी।

और मेरी ज़िंदगी का अगला अध्याय उसी पल से शुरू होगा जिसने मुझे लगभग खत्म कर दिया था।

अध्याय 9

शरीर जिसने रखा लेखा-जोखा

जिंदा बने रहना कैसे मेरी आदत बन गई, और उसकी कीमत भी मुझे चुकानी पड़ी।

जब जिस्म वह सब भी याद रखता है जिसे दिमाग भुला देता है।

हमेशा एक पल आता है — जिसकी गवाही शरीर तो देता है पर मन स्वीकार नहीं करता। ऐसे पल खामोश होते हैं, मगर गहरे उतर जाते हैं। ये इतने हल्के होते हैं कि उन्हें अनदेखा करना आसान होता है। इन्हीं पलों में जिस्म हिसाब रखना शुरू कर देता है, जबकि दिमाग मानने से इनकार करता है।

बाहर से मैं मजबूत लगती थी। मैं दिखती थी:

अपनी बात बोलती।

अपना काम करती।

बच्चों के लिए मौजूद रहती।

अपने सफ़र में खुद को मुझमें देखती हुई औरतों के साथ।

हर जगह मौजूद होती, जहां बुलाई जाती थी, अपनी आवाज़ के साथ।

यह सब गतिशीलता जैसा लगता था।

अंदर से, मैं एक ऐसी धाविका थी जो बिना साँस लिए मैराथन दौड़ रही थी। और चूँकि मैं खुद को इतनी बार बचा चुकी थी कि मैंने खुद से कहा:

यह कुछ नहीं है।

जीवन ऐसे ही चलता है।

सब ठीक है।

"सब ठीक है", यह झूठ औरतें तभी बोलती हैं जब यह बताना महंगा पड़ जाए कि वे टूट रही हैं।

एक भ्रम: "मैं ठीक हूँ"

तब तक, "मैं ठीक हूँ" मेरी सबसे रटी-रटाई पंक्ति बन गई थी। ऐसा इसलिए नहीं कि यह सच था, इसलिए कि यह कारगर था।

इसने और सवाल पूछने से रोक दिया। लोगों को आश्चर्य किया। मुझे चलते रहने दिया। मुझे यह दिखावा करने दिया कि मेरा शरीर मुझे फुसफुसाकर आगाह नहीं कर रहा था। मैंने खुद से कहा कि यह बस 'व्यस्तता का दौर' है। कि जब बच्चे बड़े हो जाएंगे, मैं आराम करूंगी। जब समय-सीमाएँ खत्म हो जाएंगी, मैं चैन की साँस लूंगी। जब काम पूरे हो जाएंगे, मैं धीमी पड़ जाऊंगी। जब चिंता खत्म हो जाएगी, मैं सोऊंगी। एक शर्त और एक उम्मीद के रूप में 'जब' हमेशा मौजूद था। पर वो 'जब' कभी आया ही नहीं। क्योंकि जब तुम बहुत लंबे समय तक सिर्फ़ ज़िंदा रहने की स्थिति में जी लेते हो, तो आराम राहत जैसा नहीं लगता। वो ख़तरा जैसा लगता है।

ज़रूरत बनने की अनकही कीमत

जिन कहानियों को पहले किसी से नहीं कहा था, उन्हें लेकर औरतें मेरे पास आती थीं। अलग-अलग मंचों पर मैंने उन कहानियों को दबी जुबान में सुनाया।

शर्म, ग्लानि, डर और तड़प में परत-दर-परत लिपटी कहानियों को मैंने आधी रात में टाइप किया। औरतों ने मुझ पर भरोसा इसलिए किया कि मैं खुद को उन हालातों से बचा पाई थी, जिन्हें वो झेल रही थीं। और उन कहानियों को मैंने नरम एहसास और भरे मन से सहेज कर रखा।

मैंने अपने बच्चों की ज़रूरतें पूरी कीं।

जिन लोगों के लिए मैं काम करती थी, उनका दर्द कम किया।

तूफ़ान झेलते दोस्तों के साथ खड़ी रही।

समाज की उम्मीदें पूरी कीं।

लोगों के उलझे हुए दुख सुलझाए।

मैं बह नहीं रही थी।

मैं लहरों से बिना रुके लड़ती रही।

और बिना किसी किनारे के लहरों से लड़ते रहना तुम्हें अंदर से तोड़ देता है।

शरीर ने संकेत देने शुरू किए

संकेत नाटकीय तरीके से एकदम नहीं आए। पहले वो फुसफुसाए। सीना चीरती खांसी। छाती में कुछ जमा हुआ सा।

हड्डियों तक उतरी थकान, जिसे नींद भी नहीं मिटा सकी।

सुबहें भारी लगने लगीं। घुटने बोझ से दबे-दबे।

साँस पूरी आती ही नहीं थी। मैंने सारी चेतावनियों को नज़रअंदाज़ कर दिया। क्योंकि औरतों को सिखाया जाता है कि अपनी भावनाओं पर, दिल की आवाज़ पर, दर्द जो दिख रहा है उस पर भी खुद ही प्रश्न उठाओ।

"ये तो तनाव है।"

"ये हार्मोन्स हैं।"

"ये उर्जा खत्म करने वाली थकान है।"

"यही ज़िंदगी है।"

सक्रियता: दर्द से बचने का बहाना

काम करते रहना सुकून नहीं था। एक जगह टिक कर सोचने से भागने का तरीका था।

ठहराव डराता था। ठहरना गिरने जैसा लगता था। आराम समर्पण जैसा लगता था।

तो मैंने अपना दिनचर्या निश्चित कर लिया:

बातचीत।

इवेंट्स।

मीटिंग्स।

प्रोजेक्ट्स।

समय-सीमा निर्धारण।

आग्रह

औरतें जिन्हें मेरी ज़रूरत थी। मैंने उन्हें हाँ कह दिया जब मुझे ना कहना चाहिए था। इसलिए नहीं कि मैं हर जगह दिखना चाहती थी, बल्कि इसलिए कि मुझे रुकना आता ही नहीं था। जब सालों से व्यस्त रहना ही तुम्हारा बचाव का तरीका बन चुका हो, तो थम जाना बिखर जाने जैसा लगता है।

आज़ादी के बाद का भावनात्मक खालीपन

लोग मानते हैं कि आज़ादी हर ज़ख्म भर देती है। ऐसा नहीं है। आज़ादी उन सब बातों को सामने ले आती है जिन्हें महसूस करने की फुरसत ही नहीं मिली, क्योंकि आप बस बचे रहने में लगे थे।

दुःख।

खालीपन।

हर वक्त बना डर।

वो सदमा जो कभी भरा ही नहीं।

अकेले बच्चा पालने की कीमत।
सच को निगलते हुए बीते बरसों के ज़ख्म।
मैं शादी के दौरान नहीं टूटी।
मैं जंग के दौरान नहीं टूटी।
मैं घर के झगड़ों में भी नहीं टूटी।
मैं इन सबके बाद टूटी।
जब डर का माहौल खत्म हुआ।
जब लड़ाई थम गई।
जब तालियाँ बंद हो गईं।
तभी मेरे शरीर ने कहा:
बस, अब और नहीं।
अकेले माँ-बाप होने की रफ़्तार
अकेली माँओं के हिस्से एक अलग तरह की थकान आती है:
हर बात याद रखना।
हर चीज़ पहले से सोचना।
हर फैसला अकेले लेना।
भावनाओं का बोझ उठाना।
हर पल सतर्क रहना।
यहाँ तक कि जब बच्चे अपने पिता के साथ होते, मेरा ध्यान फोन पर लगा रहता।
अगर ऐसा हुआ तो?

अब क्या करें?

आगे क्या होगा?

ये चिंता नहीं थी।

ऐसे ही जीना सिखाया गया था। सालों की निगरानी ने मेरे सोचने-समझने का ढंग ही बदल दिया था। मैं भूल चुकी थी कि 'सामान्य' कैसा लगता है।

और इस तरह का मानसिक बोझ शरीर को खाली कर देता है।

भारत — जब मेरी आत्मा को पहली बार सुकून मिला

भारत कोई समस्या नहीं था। भारत एक आशीर्वाद था। दिसंबर 2024 से जनवरी 2025 के वो दिन कोमल एहसासों से भरे थे।

मंदिर।

रंग।

हवा।

धार्मिक अनुभव।

वैष्णो देवी।

वृंदावन।

बरसाना।

कालकाजी।

इन जगहों ने मुझे अपना लिया। मैं आध्यात्मिक रूप से भर गई। भावनात्मक रूप से मजबूत हुई। बरसों बाद ऐसी शांति मिली थी। भारत ने मुझे समझ दी।

लेकिन सच ये है: भरी हुई आत्मा भी उस शरीर को एकदम ठीक नहीं कर सकती जो सालों से टूट रहा हो। मेरी आत्मा ऊपर उठ गई थी, पर मेरा शरीर अब भी खालीपन से लड़ रहा था। मैं उस फर्क को तब समझ नहीं पा रही थी।

अंतिम चेतावनी

जनवरी 2025 सलीके से आया।

खाँसी पर ध्यान नहीं दिया।

साँसों के टूटने पर ध्यान नहीं दिया।

हो रही थकान पर ध्यान नहीं दिया।

सीने में मौजूद भारीपन पर ध्यान नहीं दिया।

मैंने स्वयं से कहा:

"इस माह को पार कर लिया जाए।"

"इस योजना को पूरा कर लिया जाए।"

"इस कार्यक्रम को पूरा कर लिया जाए।"

"थोड़ी और स्थितियों को संभाल लिया जाए।"

औरतें हमेशा स्थितियों को संभालती हैं। शरीर ढहने से पहले चेतावनी देता है। पर यदि तुम वर्षों से दर्द को दबाती आ रही हो, तो तुम इन चेतावनियों को भी दबा देती हो।

यह भरोसा, जिसने मुझे लगभग मार ही दिया था।

यह सत्य है। बीमारी के हर लक्षण के नीचे यह सत्य छुपा रहता है: मैं अपनी सहनशीलता जानती हूँ।

मैं कितना रोग झेल सकती हूँ।

मेरी ज़रूरतें बहुत थोड़ी हैं।

मैं कितना कम आराम करती हूँ।

मैं लगातार सामना करती रही।

मैंने कितनी कम बार शिकायत की।

यही भरोसा कभी मुझे जिंदा रखता था। अब धीरे-धीरे यही मुझे मार रहा है।
जानबूझकर नहीं। किसी एक घटना से नहीं। चुपचाप।

बिखरने से पहले की खामोशी

जब सब कुछ उलझ चुका था, उसके पहले कुछ भी खतरनाक नहीं लग रहा था।

बस थकान सी थी।

साँस टूटती सी लगती थी।

शरीर आराम से रुक जाने को कह रहा था।

एक औरत को पता ही नहीं था कि रुका कैसे जाता है।

मुझे अपने टूटने का अंदाज़ा नहीं था। मैं बिखरने वाली औरत थी भी नहीं। मैं अपनी
ज़िंदगी बहुत बार बचा चुकी थी। लेकिन शरीर को इस बात से फर्क नहीं पड़ता कि
आप कभी कितने मज़बूत थे। जब शरीर तय कर लेता है कि दिमाग ने उसकी
चेतावनियाँ अनसुनी कर दी हैं, तो वो ऐसा कदम उठाता है जो आप सोच भी नहीं
सकते:

शरीर काम करना बंद कर देता है।

और फरवरी 2025 में...

मेरे साथ यही हुआ।

जो ज़िंदगी ने नहीं दिया, वो शरीर ने ले लिया

खुद को नज़रअंदाज़ करने की लंबी ट्रेनिंग

जब तक मेरा शरीर पूरी तरह टूटा, तब तक वो मुझे सालों से चेतावनी दे रहा था। पर ज़ोर से नहीं। गंभीर तरीके से भी नहीं। शांति से बताता रहा, क्योंकि वो जानता था कि मैं अनसुना कर दूँगी। एक खाँसी जो ज़रूरत से ज़्यादा दिन टिक गई।

जी भर के साँस नहीं ले पाती थी। एक ऐसी थकान जिसे नींद भी दूर नहीं कर पाती थी।

तनाव, जलन और हृदय से ज़्यादा ज़िम्मेदारी के साथ सीने पर एक बोझ।

मुझे बेचैनी सहना सिखाया गया था। सहते हुए चलते रहना सिखाया गया था। ये भी सिखाया गया था कि एक बार रुक गई तो नतीजा बहुत बुरा होगा।

जवानी की ज़्यादातर रातें मैंने टूटी-फूटी नींद में काटीं। कभी-कभार की खराब रात नहीं, बल्कि वो नींद जो इंसान की सोचने की क्षमता ही बदल दे।

मैंने सीख लिया था:

थकान की हृदय तक काम करना।

थकान की हृदय तक सोचना।

थकान की हृदय तक बच्चे पालना।

थकान की हृदय तक नौकरी करना।

थकान की हृदय तक ज़िंदगी जीना।

कहीं न कहीं रास्ते में, थकान चेतावनी लगनी बंद हो गई। वो मेरी आदत सी बन गई। मैंने एक और खतरनाक बात सीख ली थी:

मेरी ज़रूरतें लोगों को परेशान करती हैं।

मेरी तकलीफ़ से घर की शांति बिगड़ती है।

मेरे सच बोलने से रात खराब हो जाती है।

तूने नींद खराब कर दी।

तो मैंने हर इशारे को दबा लिया। हर तकलीफ़ को अनसुना कर दिया। चलती रही। क्योंकि मेरे जैसी औरतों को सिखाया जाता है कि टूटना कमज़ोरी है और सहना ताकत है।

और इसी दुनिया और अगली दुनिया के बीच, वो सवाल फिर लौट आया जिसने मेरी पूरी ज़िंदगी तय की थी:

अगर मैंने उनकी नींद खराब कर दी, तो क्या मेरी ज़िंदगी बचेगी?

पहली बार, जवाब बहुत कठोर था:

अगर मैं ऐसे ही जीती रही, तो नहीं।

वो सुबह जब शरीर ने सौदा करने से मना कर दिया

जिस सुबह ये हुआ, वो बिल्कुल आम थी।

यही बात इसे डरावना बनाती है। कोई झगड़ा नहीं। कोई मेहनत नहीं।

यह कोई नाटक नहीं था। सिर्फ सांस पर ध्यान था। सांस पतली लग रही थी। रुक-रुक कर आ रही थी। अगली सांस आएगी भी या नहीं, भरोसा नहीं था। मुझे याद है, मैं बिस्तर के किनारे पर बैठी थी, तलवे फर्श पर टिके थे, एक हाथ गद्दे को दबाए हुए थी, मानो मैं खुद को कमरे से बांधकर ताकत चाह रही थी। मैंने सांस ली — जैसी चाहिए थी, वैसी नहीं थी। फिर ली। फिर भी कम थी। गले के पीछे धातु जैसा स्वाद था। दबाव था, पर भावना वाला नहीं, मशीन जैसा।

पहला ख़याल डर नहीं था। वो था बात को छोटा करना:

यह बेचैनी है। तुम बहुत थकी हो। तुम बढ़ा-चढ़ाकर सोच रही हो।

औरतों को सिखाया जाता है कि खतरे से बातें करो, जब तक खतरा बातें करना बंद न कर दे। मेरे सीने में एक नई तरह की जकड़न थी। तेज़ नहीं थी। घबराहट वाली नहीं थी। भारी थी। हठी थी। आखिरी थी। कमरे के कोने घुंघले पड़ने लगे।

शरीर पर बोझ बढ़ने लगा। लगा जैसे गुरुत्वाकर्षण बढ़ गया हो। और एक वाक्य बिल्कुल साफ सुनाई दिया:

यह सामान्य नहीं है।

ये तनाव नहीं है।

थकान नहीं है।

ऐसा नहीं कि लेटने से ठीक हो जाएगा।

कुछ गड़बड़ है।

कॉल करना

मैं गिरी नहीं।

मैं चिल्लाई नहीं।

मैंने 999 पर फोन किया।

अपनी आवाज़ सुनकर मैं खुद चौंक गई — शांत, अलग सी, जैसे किसी और की हो।

“मेरी छाती... कुछ गड़बड़ है... मैं ठीक से सांस नहीं ले पा रही।”

ऑपरेटर की आवाज़ मेरी दुनिया की इकलौती चीज़ बन गई जिस पर ध्यान टिका था।

"फोन पर बनी रहिए।"

"मदद आ रही है।"

"मुझे बातचीत करती रहिए।"

ऑपरेटर से बात करते-करते, मेरे शरीर में चुपचाप गिरावट हो रही थी।

उंगलियों में झनझनाहट थी।

होंठ ठंडे हो गए थे।

रुक-रुक कर आती सांसों से भरोसा डगमगा रहा था। जब पैरामेडिकल टीम आई तो मैं होश में थी। सीधी बैठी थी। बातचीत कर रही थी। मगर साफ-साफ दिख रहा था कि मैं हार रही थी। ऑक्सीजन मास्क...

अचानक वे फुर्ती में आ गए। उनकी इस तेज़ी ने शब्दों से ज़्यादा बता दिया।

"हम आपको अपने साथ ले जा रहे हैं।"

अस्पताल — जहाँ सुरक्षा नहीं थी

अस्पताल में आते ही राहत नहीं मिली। बस हो रही चीज़ों को देखना पड़ा। जांच। खून। स्कैन। नंबरों पर चर्चा। मैं सुन नहीं पा रही थी। ऑक्सीजन बढ़ाई गई। फिर दोबारा बढ़ाई गई। डॉक्टर सावधानी से बोल रहे थे। उनके शब्द न डरा रहे थे, न बेफिक्र थे।

"हम आपको भर्ती कर रहे हैं। हमें आप पर करीब से नज़र रखनी होगी। देखेंगे कि हमारे इलाज का आप पर कैसा असर होता है।"

मैंने उनकी बातों पर भरोसा किया। मुझे लगा अस्पताल में भर्ती होने का मतलब है कि आप सुरक्षित हैं।

मैं तब तक नहीं समझती थी कि शरीर का ढहना एक प्रक्रिया है, कोई घटना नहीं।

धीमी गति से बिखराव

पहला दिन, मैं अब भी बातचीत कर सकती थी। दूसरे दिन, बस बाथरूम तक चल पा रही थी। वो भी धीरे-धीरे, सोच-सोच कर, ऑक्सीजन को अपने साथ घसीटते

हुए। तीसरे दिन, सांस लेना स्वाभाविक नहीं रहा। उसे काम की तरह करना पड़ रहा था।

मुझे तकलीफ नहीं थी। मैं कोशिश भी नहीं कर रही थी। अस्पताल के बेड पर पड़े रहना एक काम था।

मेरा सीना जल रहा था। साँस सीने तक नहीं आ रही थी। साँसों से भरोसा उठ रहा था।

मास्क लगा था। नंबर नीचे गिरते रहे। हर बदलाव बेअसर था। मुझे याद नहीं कि किसी ने कहा हो:

"हम आपको वेंटिलेटर पर डालने वाले हैं।"

और यही कारण है। क्योंकि जब ऑक्सीजन का स्तर बहुत गिर जाता है, तो दिमाग यादें नहीं बना पाता। वह यादें बनाना बंद कर देता है। खुद को बचाने में लग जाता है। मुझे बस छोटे-छोटे पल याद हैं: परिचित चेहरे पहले से कहीं ज्यादा करीब दिख रहे थे। आवाज़ें पहले से कहीं ज्यादा दूर से आती लग रही थीं। कमरे की हवा में हुए बदलाव ने बता दिया था कि अब हालत हद पार कर चुकी है। और फिर बेतुकेपन से, स्वतः ही, मेरे चेहरे पर एक हँसी उभर आई—मज़ाक करने का मन हो आया। मैंने अपने बेटे की ओर देखा और कुछ ऐसा कहा:

"लोगों से बोल देना, मुझसे मिलने आ जाएँ।"

उसे डराने के लिए नहीं।

उस पल को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि मेरे भीतर का कोई गहरा और शांत हिस्सा जानता था—इस तरह की गंभीर स्थिति का अनुभव मैंने पहले कभी नहीं किया था। जब सच को ढोना या घुमा-फिराकर कहना भारी पड़ जाए, तो उसे कहने का मेरा एक ही तरीका रहा है—मज़ाक।

जब दुनिया दस दिन जागती रही

अगली सुबह मैं नहीं जागी।

उससे अगली सुबह भी नहीं।

मैं दस दिन कोमा में रही।

दस दिन जब मशीनों ने मेरे लिए साँसें लीं। दस दिन जब मेरा जिस्म शांत पड़ा रहा,
जबकि मेरी ज़िंदगी अधर में लटकी रही।

दस दिन जब समय हर जगह चलता रहा—सिवाय मेरे लिए। मुझे वे दिन याद नहीं।

पर उन दिनों का दर्द मैं जानती हूँ।

मेरी माँ नहीं सोई।

मेरे बच्चे नहीं सोए।

मेरी बहन नहीं सोई।

मेरे दोस्त नहीं सोए।

रात के सन्नाटे में अस्पताल का गलियारा। लोग लगातार फ़ोन कान से लगाए हुए थे। प्रतीक्षालय में सबकी साँसें थमी हुई थीं। सालों तक मैं यही मानती रही कि मेरी ज़रूरतें लोगों की रातों का चैन छीन रही थीं। अब मेरी अनुपस्थिति की वजह से ऐसा हो रहा था।

तूने नींद खराब कर दी

सिर्फ़ इस बार यह इल्ज़ाम नहीं था।

यह सच था।

मौत के करीब: मैं बच गई

जिंदगी के इस हिस्से को शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता। क्योंकि यह स्वप्न नहीं था। यह भ्रम नहीं था। यह बिछड़ना था।

मेरा जिस्म बिस्तर पर था। पर मैं पूरी तरह अपने जिस्म में नहीं थी। मैंने खुद को बहता हुआ महसूस किया—हल्का, दिशाहीन—मानो किसी ज़रूरी चीज़ ने अपनी पकड़ ढीली कर दी हो। भयमुक्त। लंबी शांति।

एक बड़े दायरे में सब कुछ घेर लेने वाला मुलायम सन्नाटा। मैंने अपने पिता के हाथों में खुद को थमा हुआ महसूस किया। उनकी मौजूदगी पूरी तरह असली लगी।

और यह एक ऐसा पल था जिसे नापा नहीं जा सकता था। उस पल मैंने खुद को मरते हुए नहीं, जाते हुए महसूस किया। जाते हुए। एक हल्की-सी हलचल। कोशिशों, दर्द और ज़िम्मेदारियों से दूर जाने का एहसास। किसी गर्म और ठहरी हुई चीज़ की ओर खिंचाव।

कुछ ऐसा था कि अपनी बालिश जिंदगी में मैंने पहली बार 'आराम' महसूस किया।
उधार की जिंदगी

जब मुझे होश आया, मैं साँसें नहीं ले पा रही थी। एक मशीन मेरे लिए साँसें ले रही थी। मेरे गले में एक नली थी।

कानों में शोर। बदन पर हर तरफ तारें। मैं बोल नहीं सकती थी। हिल नहीं सकती थी। रो नहीं सकती थी।

मैं उन साँसों के बीच ज़िंदा थी जो मेरी नहीं थीं। लोग वेंटिलेटर की बात चिकित्सा के नज़रिए से करते हैं।

पर उससे जुड़े मूल सत्य की बात नहीं करते:

वेंटिलेटर उधार की जिंदगी है।

और मैं उससे उधार ले रही थी।

बचे रहने की क्रीमत

जब आखिरकार मैं खुद में पूरी तरह लौटी, तो सिनेमाई अंदाज़ में आभार की कोई अभिव्यक्ति नहीं थी।

सिर्फ सदमा था।

भय था।

और यह समझ कि मेरे जिस्म ने एक ऐसी हद पार कर ली थी जिसका मैं अब दिखावा नहीं कर सकती थी।

वर्षों तक मैं उधार की नींद, उधार की साँस, उधार की ताकत पर ज़िंदा थी। सहने के लिए मेरी सराहना हुई।

चुप रहने पर इनाम मिला। मैं जितना ढोती रही, उतना ही महत्त्व पाती रही। मेरे जिस्म ने इस सौदेबाज़ी से इनकार कर दिया।

उसने पूछना बंद कर दिया। ज़रूरत के हिसाब से खुद ले लिया। बिखरना नाकामी नहीं थी। यह हिसाब चुकता होना था।

और मुझे एक ऐसा सच पता चला जिसे मैं अब अनदेखा नहीं कर सकती।

वो ज़िंदा रहना जिसमें खुद को मिटाना पड़े, ज़िंदा रहना नहीं है।

अध्याय 10

परिणाम

क्या होता है जब तुम वहाँ से भी वापस आती हो जहाँ से कोई वापस नहीं आता....
एक ऐसी दुनिया में जागना जो सोई ही नहीं थी

लोग सोचते हैं कि जागना अंत है। जैसे बच जाना ही चैन है। जैसे आँख खुलते ही कहानी खत्म हो जाती है।

ऐसा नहीं होता। जब मुझे होश आया, मैं एक ऐसी दुनिया में पहुँची जो सोई ही नहीं थी। जब मेरा शरीर बेड पर चुपचाप पड़ा था, बाकी सब लोग रात भर जाग रहे थे। मिलने का वक्त खत्म होने के बाद भी सब अस्पताल के गलियारे में थे। सबके फ़ोन तेज़ आवाज़ पर थे। अँधेरे में बार-बार फ़ोन चेक कर रहे थे — किसी मैसेज के इंतज़ार में। उनके लिए वक्त आम दिनों जैसा नहीं बीत रहा था।

वक्त खिंच रहा था।

वक्त थम गया था।

वक्त सुलझने को तैयार ही नहीं था।

बाद में समझ आया कि जब मैं बेहोश थी, मुझसे प्यार करने वाले कई दिनों तक अपनी साँस रोके रहे।

मेरे बच्चे और बदलाव लाने वाली रातें

यह सबसे कठोर सच मेरे साथ था:

अपने बच्चों की नींद मैंने खराब कर दी।

इसलिए नहीं कि मैं झल्लाई।

इसलिए नहीं कि मैंने बहस की।

इसलिए नहीं कि मैंने खुद की

प्राथमिकता दी।

बल्कि इसलिए कि मैं लगभग जा चुकी थी। वे गहरी नींद में नहीं सोए थे। अगर सोए भी तो कच्ची नींद में। वे फोन की घंटी, कदमों की आहट, आती खबरों से जागते रहे। गंभीर बीमारियों में चिकित्सकों की भाषा बच्चे नहीं समझते हैं। वे महज कल्पना कर सकते हैं। कल्पना सत्राटे को भय से भर देती है। सोने जाते समय भी वे नहीं जानते थे कि उनकी मां सुबह तक जिंदा रहेगी भी या नहीं। यह जानकारी मुझे तीर सी चुभी। वर्षों तक एक ही वाक्य को झेलते मैं जिन्दा रही। यह वाक्य कभी कहा गया, कभी इशारों में बताया गया, कभी मैंने मन ही मन समझी:

तूने नींद खराब कर दी।

मैंने इसका मतलब यह समझा:

तुम बर्दाश्त से बाहर हो।

तुम अड़चन हो।

तुमने शांति भंग की।

अब इसका मतलब बिल्कुल कुछ और था। मेरी जिंदगी उनकी मासूमियत की कीमत पर थी। और उस बात का गिलानी — सरल, माँ के कर्तव्य वाली माफ़ न करने वाली — रात में मेरे सीने को जकड़ लेता थी। मैं सो नहीं पाती थी।

हर वक़्त जगती मेरी मां:

वह नींद जो आपमें ताजगी भर देती है, वैसी नींद मेरी मां नहीं सोई। वह प्रार्थना करती रही। डॉक्टर की खबरें रह-रह कर अस्पताल से मिलती रहीं। इस बीच के सत्राटे को वह सुनती रही। यह पहली बार नहीं था कि वह मेरे कारण वह सोयी नहीं, पर यह पहली बार था कि नींद न आने की वजह अपनी बेटी को हमेशा के लिए खो देने की आशंका थी। उसने इसे नाटकीय नहीं बनाया। ढिंढोरा नहीं पीटा। उसने वही किया, जो उसकी पीढ़ी की औरतें करती हैं:

रीति-रिवाजों से, आस्था से, सूनी आंखों से प्रार्थना की।

होश में आने के बाद, मैंने उसे देखा और मैं अंदर से टूट गई। क्योंकि अचानक वही वाक्य, जो जिंदगी भर मेरे साथ लगा रहा, एक असहनीय बोझ के साथ मेरे सामने आ गया:

तूने नींद खराब कर दी।

यह मेरे उपर आरोप का फैसला नहीं था।

यह गहरा दुःख था।

रातों को संभालती मेरी बहन

मेरी मां भय को अंदर संभाल कर रखी, मेरी बहन ने बाहर की दुनिया में इसे संभाला। नाजुक घड़ियों में वो सबको संभालती रही, खबर देती रही।

उसने वो सच दबाए रखा जिसे दूसरे बर्दाश्त नहीं कर पाते। उसने हालात काबू में रखे ताकि बदहवासी का माहौल न बने। उसका जागते रहना ज़रूरी था। बाद में उसने बताया कि उसका फोन बायीं हथेली से कभी छूटा ही नहीं। कैसे फोन का हर वाइब्रेशन धड़कन तेज कर देता था। कैसे नींद चारों ओर घूमती रही, मगर आंखों में नहीं उतरी।

मुझे सब मजबूत समझते थे। मैं सबको ताकत देती रही। आज वह मुझे संभाल रही है। और जो सब उसने चुपचाप सहा, एक अपराध-बोध की तरह मेरे अंतर्मन में बैठ गया। प्यार कभी होने की स्वयं घोषणा नहीं करता है। वह हमेशा बना रहता है।

वह वाक्य पलट कर वार कर गया

तूने नींद खराब कर दी।

जिंदगी के ज्यादातर हिस्से में इसी एक वाक्य ने मुझे सामना करना सिखाया। इसने मुझे चुपचाप सहना सिखाया। दूसरों तक पहुँचने से पहले ही अपनी तकलीफ़ को दबा देना सिखाया। दर्द को इस सलीके से, इस सफाई से संभालना कि किसी को न दिखाई पड़े, न सुनाई पड़े, न किसी को चुभन का एहसास हो। बस चलते रहो ताकि बाकी सब आराम कर सकें।

यह वाक्य कभी महज़ मुहावरा नहीं था। यह हुक्म था। चेतावनी थी।

जैसे कि लक्ष्मण-रेखा थी।

दोबारा दी जाने वाली हिदायत कि मेरा वजूद घर-समाज से बड़ा नहीं होना चाहिए।

लेकिन कोमा से गुजरने के बाद यह वाक्य बाहर से नहीं, अंदर से सुनाई देने लगा।

इसकी दिशा बदल गई। अब ये अंतर्मन की तरफ मुड़ गया।

अब कोई और मुझसे नहीं कह रहा था। अब मैं खुद से कह रही थी।

मैंने उनकी नींद उजाड़ दी।

मैंने अपने बच्चों को डरा दिया।

मैंने अपनी माँ को और बूढ़ी कर दिया।

मैंने अपनी बहन को थका दिया।

मुझसे प्यार करने वालों को मैंने सहमा दिया।

मेरा जिस्म इस दुनिया से लगभग विदा ले चुका था, और मैं तब भी यही सोच रही थी कि दूसरों पर कितना बोझ डाल दिया। मुझ जैसी बेटियों की यही त्रासदी है: जब हम खुद मौत के मुह पर होती हैं, तब भी दूसरों की असुविधा के लिए माफ़ी माँगती हैं।

हम किसी प्रलय से बचकर निकलती हैं और इस बात के लिए खुद को दोषी मानती हैं कि हमारी वजह से लोग रो पड़े।

हम मौत को छूकर लौटती हैं और फिक्र करती हैं कि हमारे कारण दूसरों की जिंदगी मुश्किल हो गई।

हम अस्पताल में आँख खोलते ही सोचने लगती हैं:

मैंने फिर से उनकी शांति भंग कर दी।

क्योंकि संस्कार इतनी गहराई तक धँसे हुए हैं। वह वाक्य एक ऐसा आईना बन गया जिससे मैं बच नहीं सकती थी:

"तुमने नींद खराब कर दी।"

सिर्फ उनका आराम नहीं — उनकी उम्मीदें, मेरे बारे में उनकी बनाई छवि, उनका यह यकीन कि मैं हमेशा सब सह लूँगी और कभी टूटूँगी नहीं। और यहाँ वह सच था जिसका मुझे सामना करना पड़ा:

उन्हें मेरे कोमा ने नहीं हिलाया था।

उन्हें इस बात ने हिला दिया कि मैं आखिरकार इस तरह टूट गई कि वे नज़रअंदाज़ नहीं कर सके।

ऐसे कि न तो उसे छिपाया जा सकता था, न चुप कराया जा सकता था, न कोई सफ़ाई दी जा सकती थी।

ऐसे कि उन सभी सालों की कीमत सामने आ गई जब मैं चुप रही।

पहली बार, उन्होंने मेरे सब्र की कीमत देखी।

और मैंने भी देखी। हम औरतें यही करती हैं — अकल्पनीय को झेल जाती हैं और फिर उसके असर के लिए माफ़ी माँगती हैं। हम उन लोगों से माफ़ी माँगती हैं जो हमसे प्यार करते हैं, उन्हें डराने के लिए, जबकि वह डर उस सब से पैदा हुआ था जिसे हमने बहुत लंबे समय तक भीतर दबाकर रखा था।

जबकि वह बोझ कभी अकेले हमारा नहीं था।

जबकि टूटना ही एकमात्र वह चीज़ थी जिसने आखिरकार सच बयाँ किया।

क्योंकि असली वाक्य, जिसे कोई ज़ोर से नहीं कहता — वह यह है:

तुमने उनकी नींद खराब नहीं की।

तुम्हारे दुख ने आखिरकार उन्हें जगा दिया।

वह क्षण जब मेरे बेटे से मेरी वसीयत के बारे में पूछा गया

जब मुझे पता चला कि एक डॉक्टर ने मेरे बेटे से मेरी वसीयत के बारे में पूछा है, तो दिमाग के सोचने से पहले ही मेरे जिस्म ने प्रतिक्रिया दे दी।

गर्मी। मतली। एक ऐसा दुख जो इतना तेज़ था कि जिस्मानी लगने लगा। कागज़ी कार्रवाई की वजह से नहीं। बच्चों की वजह से।

मेरा बच्चा। एक लड़का जिसे आम बातों की चिंता होनी चाहिए थी — काम, दोस्त, आगे क्या होगा।

इसके बजाय, उससे एक ऐसी दुनिया की कल्पना करने को कहा जा रहा था जिसमें उसकी माँ न हो। मैं वहाँ सुनने के लिए नहीं थी। मैं उसकी रक्षा के लिए वहाँ नहीं थी। उसके बाद नींद लौटी ही नहीं। मरने के डर से नहीं, बल्कि इस पीड़ा से कि मेरे बच्चे उस भविष्य के कितने करीब आ गए थे जो मैं उन्हें कभी नहीं देना चाहती थी।

अँधेरे पर भरोसा न करने वाले जिस्म के साथ घर वापसी

जब मैं घर आई, लोग धीरे बोलते थे। जैसे आवाज़ ही मुझे तोड़ देगी। "अब तुम सुरक्षित हो।" "तुम घर आ गई हो।"

"सब खत्म हो गया।" मेरे जिस्म ने उनकी बात नहीं मानी। रात सबसे कठिन हो गई।

अँधेरा यादें नहीं, एहसास लेकर आता था। रुकी हुई साँस। फिसलना। छोड़ देना। मैं जागकर घर की साँसें सुनती रहती, बिना इरादे के बार-बार अपनी छाती जाँचती, साँसें गिनती।

बारह सालों तक, मैंने जिंदगी को जोड़े रखने के लिए नींद खोई थी। अब मैं नींद खो रही थी क्योंकि मैं खो गई थी। क्योंकि मेरा जिस्म संकट के बिना जीना नहीं जानता था। संकट ही उसका सिद्धांत था। एक बार फिर, नींद रणक्षेत्र बन गई।

मोड़

यहीं से अध्याय मुड़ता है। कृतज्ञता में नहीं। प्रेरणा में नहीं। सच में।

मैंने आखिरकार कुछ ऐसा समझा जिसने सब कुछ बदल दिया:

मेरे होने भर से मैंने किसी की नींद खराब नहीं की।

मैं टूटकर असफल नहीं हुई।

बचकर मैंने अपने बच्चों को नुकसान नहीं पहुँचाया।

जिस चीज़ ने हम सबको नुकसान पहुँचाया वह थी मेरी यह उम्र भर की सोच कि दूसरों के आराम के लिए मुझे चुपचाप गायब हो जाना चाहिए।

उस सोच को तोड़ने के लिए मेरे शरीर को मौत के करीब तक जाना पड़ा। जीवन में पहली बार महसूस हुआ कि मुझे मजबूत देखना कोई नहीं चाहता था।

वे चाहते थे कि मैं बस जिंदा रहूँ।

मुझे नहीं पता था कि जिंदा रहना और जीना, दो अलग बातें हैं।

और धीरे-धीरे, दर्द को झेलते हुए उस वाक्य का असर कम होने लगा:

"तूने नींद खराब कर दी।"

अब नहीं।

दूसरों की शांति बचाए रखने के लिए मैंने लगभग अपनी पूरी जिंदगी खो दी। एक नई सोच की शुरुआत के साथ यह अध्याय यहीं समाप्त होता है।

मेरा होना अशांति का कारण नहीं था।

मेरा आराम करना स्वार्थ नहीं था।

मेरा बचे रहना किसी से माफी की वजह नहीं है।

और, दोबारा नींद आने का तरीका जानना, मेरे द्वारा किए जाने वाले सबसे कठिन कामों में से एक होगा।

अध्याय 11

वे देख नहीं पाए

अस्पताल से लौटकर जब शरीर संभल रहा था, तब कुछ बातें बिना आवाज़ के ही भीतर तक धमाका कर गईं।

नहाकर बाथ-टब के किनारे बैठे-बैठे साँसों को काबू करते हुए यह महसूस करना कि रोज़ का सबसे मामूली काम भी अब पहाड़-सा लगता है।

यह जानना कि तुम अपने कपड़े खुद ठीक से नहीं पहन सकतीं। बटन लगाना ऊंगली से कुंआ खोदने- सा लगता है। बाँहें तुम्हारी मर्जी से उठती ही नहीं। शरीर अब तुम्हारी सुनता ही नहीं।

भोजन के समय किसी का सहारा चाहिए। चम्मच को होंठों तक ले जाने में इतना समय और थकान लगती है कि खाना ठंडा पड़ जाता है, और भूख वैसी की वैसी रह जाती है। भूख और थकान आपस में कुश्ती करते और तुम बेबस देखती रहती हो।

छोटी-छोटी मदद माँगते हुए स्वाभिमान टुकड़े - टुकड़े हो जाता है। रसोई के एकांत कोने में चुपचाप रो लेना, क्योंकि शरीर में तय योजना के अनुसार काम करने की ताकत ही नहीं बची। हर दिन अधूरा।

रात को बिस्तर पर जाते ही एक अनजाना डर पूरे शरीर को जकड़ लेता है। अब सोना नींद नहीं, हार मान लेना लगता है। क्योंकि पिछली बार तुम्हारे सोते ही शरीर ने बगैर किसी पूर्व सूचना के काम करना बंद कर दिया था।

भोर में तीन बजे आँख खुलती है और पहला काम होता है — सीने पर हाथ रखकर धड़कनें गिनना। साँसों का उतार-चढ़ाव महसूस कर चुपचाप तसल्ली कर लेना। सन्नटे में किसी की हल्की खाँसी भी गोली की तरह चुभती है।

हर पल अपने शरीर पर पहरा देते हुए डरते रहना कि अगला कदम कहीं कुछ अनहोनी न ले आए। जीवन हर समय सवालियों के कटघरे में खड़ा है।

ऐसा लगता है कि आड़ने के सामने खड़े होकर तुम पहले अपनी थकान देखती हो, फिर खुद को।

तुम स्वयं को निहारती नहीं हो, तुम बस हालात से समझौता करती हो।

क्या यह सामान्य स्थिति है?

क्या यह खतरनाक स्थिति है?

या चीजों के ठीक होने का यही एकमात्र तरीका है?

तुम्हारे आस-पास के लोग तसल्ली चाहते हैं कि तुम पहले से बेहतर हो। इसलिए तुम्हें बेहतर दिखना भी पड़ता है। तुम्हें यही सिखाया गया है — पूरी जिंदगी अपना डर मिटाने से पहले दूसरों का डर मिटाओ।

जिन पलों में मुझे अपना दर्द चीखकर कहना चाहिए था, उन पलों में मैं मुस्कुराती रही। कई बातों को मैंने हँसी में उड़ा दिया, जबकि मुझे तब चुप रह जाना चाहिए था। जब मैं खुद ही मुसीबतों की नदी में बह रही थी, तब भी दूसरों को किनारे का भरोसा देती रही। मौत के इतने करीब जाकर भी पुरानी आदतें नहीं छूटतीं। तुम्हारे ठीक होते ही सबसे पहले वही लौटकर आती हैं।

जिंदा रहने की जंग एक झटके में खत्म नहीं होती। वह रिसती रहती है। धीरे-धीरे।

और इसी रिसाव के बीच वही पुराना जुमला फिर मुझे जकड़ने आता है:

"तूने नींद खराब कर दी।"

"उन्हें और चिंता में मत डालो।"

"किसी का दिल मत दुखाओ।"

"पहले से मुश्किल वक्त को और मुश्किल मत बनाओ।"

इसलिए मैंने चुपचाप ठीक होने की कोशिश की। तहजीब से। शुक्रगुजार होते हुए। मैं अब भी यही मानती थी कि मेरे ठीक होने से किसी और का सुकून नहीं टूटना चाहिए।

मित्र जो आए, जो नहीं भी आए

बीमारी का एक पहलू यह भी है — वह बिना पूछे तुम्हारे जानने वालों को अलग-अलग खानों में बाँट देती है।

कुछ और करीब आ गए। वे मिलने आए। अपने हाथ से खिलाया। उन्होंने यह नहीं कहा कि "सब ठीक हो जाएगा"। जब बोलना भारी लगने लगा, तो वे बस चुपचाप बैठे रहे।

उन्होंने हिम्मत रखने को भी नहीं कहा। वे बस साथ बने रहे।

कुछ चले गए। ऐसा नहीं कि मेरे दर्द का अहसास उन्हें नहीं था। सच यह है कि किसी को मौत की परछाई में देखना सबको हिला देता है।

कमजोरी रिश्तों को तहस-नहस कर देती है। क्योंकि कुछ लोग तुम्हें तभी प्यार करते हैं जब तुम आत्मनिर्भर हो, काबिल हो, और सब कुछ समेटकर चलने लायक हो।

मेरे 'कोमा' में रहने के दौरान कुछ ऐसा हुआ, जिसका पता मुझे बाद में चला। दोस्तों ने चुपचाप मेरी कर्ज की किश्तें चुकाने का फैसला कर लिया। कोई ऐलान नहीं। कोई भाषण नहीं। पहचान की कोई ख्वाहिश भी नहीं।

सच्चा प्यार तभी दिखता है जब तुम अनिश्चितता से गुजर रही होती हो। ऐसा अपनापन तुम्हें फिर से जोड़ता है। मौत को छूकर लौटी जिंदगी ने एक कड़वी सच्चाई सामने रख दी — जब तुम ठीक-ठाक दिखती हो तो लोग खुलकर प्यार जताते हैं।

जब तुम टूट जाती हो, वे या तो चुपचाप प्यार करते हैं, या मिलते ही नहीं। मैं जान गई थी कि मेरे डगमगाते वक्त में कौन मेरे साथ टिका रहेगा। उन्हें मेरे भरोसे की दरकार नहीं थी। मैं जान गई थी कि कौन मुझे बिना ठीक किए, बिना जल्दी मचाए, बिना सफाई माँगे अपना सकता है।

मैं उन्हें भी पहचान गई थी जो सिर्फ मेरे मजबूत रूप से प्यार करते हैं: यानी वह औरत जो इसलिए जागती रहे ताकि दूसरे चैन की नींद सो सकें। अब, मैं वह औरत बनने को तैयार नहीं।

धीमी गति: उबड़-खाबड़ रास्ते

सेहत की वापसी सीधी लकीर में नहीं थी। कुछ दिन मैं ताकत से भरी होती थी। कुछ दिन सीढ़ियाँ रुक-रुक कर चढ़ती थी।

कई दिन मैं सोशल मीडिया पर दिखती थी, फिर बिना बताए गायब हो जाती थी। कभी लगता था जैसे नया जन्म हुआ हो — नंगे पाँव नाचती रहती थी।

ज्यादातर दिन मैं टूटी हुई ही रहती थी। और फिर एक रात आई। पहली बार मैं बाहर घूमने निकली। कागज़ पर छोटी, पर मेरे लिए बड़ी जीत थी। एक पड़ाव। एक सबूत — "मैं लौट आई हूँ।"

मैं ढंग से तैयार हुई थी। सलीके से मुस्कुरा रही थी। जानी-पहचानी जगह, जाने-पहचाने लोग, पसंदीदा तरीके से वक्त बीत रहा था। मगर घर लौटकर मैं फूट-फूटकर रो पड़ी। थकान से नहीं।

डर से भी नहीं। पहचान का संकट था। मैं समझ नहीं पा रही थी कि यह 'मैं' कौन है। संगीत पहले-सा नहीं लग रहा था। हमारी आपसी बातें किसी दूर की आवाज़-सी लग रही थीं। मैं जिस 'मैं' को ढूँढने गई थी, वह वहाँ थी ही नहीं।

ठीक हो जाने पर भी मैं पहले-सी नहीं हो सकती थी। सच तो यह था कि उस औरत का अब कोई वजूद ही नहीं था।

और फिर दुख आया।

शांत, पैना, अचानक।

उस 'मैं' के लिए जो रास्ते में ही कहीं छूट गई थी।

पर धीरे-धीरे — इतना धीरे कि दर्द हुआ — मेरे खोए हुए वजूद का एक हिस्सा लौटने लगा। मेरा मज़ाकिया अंदाज़, मेरी प्रतिभा, मेरा अंतर्ज्ञान, मेरी स्पष्टता, मेरी आवाज़। पुरानी वाली नहीं। एक गहरी आवाज़। जिंदा बच जाने, दुख, मातृत्व और सच से तराशी हुई आवाज़।

वह आवाज़ जो अंत के छोर पर खड़ी थी और फिर वापस खींच ली गई — मजबूरी से नहीं, उम्मीद से नहीं, अपराध-बोध से नहीं — बल्कि किसी ऐसी बात ने जो मुझे यहाँ चाहती थी। पूरी तरह। जागी हुई। जिंदा।

वह अहसास जिसने सब बदल दिया

कोमा से बाहर आने के कुछ महीनों बाद, एक शाम मैं चुपचाप बैठी थी और अपने अक्स को देखा।

न खरोंच को।

न थकान को।

न चिंता को।

खुद को देखा।

और तब एक बात साफ होकर सामने आई। मैं उस औरत के पास लौटने के लिए जिंदा नहीं बची थी, जो लगभग मर ही चुकी थी।

वह औरत असाधारण थी, पर बहुत भार ढो रही थी। वह हर बात में हाँ कह देती थी। वह बहुत देर तक जागती रहती थी। वह अपनी बात कम कहती थी, दूसरों की ज़्यादा सुनती थी। वह खुद को ठीक करने से अधिक दूसरों की मदद करती थी। सबको उसकी ज़रूरत थी, पर उसका ख्याल कोई नहीं रखता था।

मैं उस औरत से प्यार करती थी। पर मैं फिर से 'वह' नहीं बन सकती थी। क्योंकि 'मैं' का वह रूप एक ऐसे कायदे के नीचे जी रहा था जिसने उसे लगभग मार ही डाला था:

आराम कमाना नहीं पड़ता, हक़ है।

नींद का हिसाब नहीं देना पड़ता।

मेरी खामोशी में कोई खलल नहीं डाल सकता।

तुमने नींद खराब कर दी।

और अचानक मैंने देखा — साफ़, बेबाक:

मैं एक ऐसी ज़िंदगी जी रही थी जिसे चलाने के लिए मेरा बीमार रहना ज़रूरी था।

अब वह ज़िंदगी खत्म।

वादे

मैंने कसम खाई।

कोई नाटक नहीं था।

कोई कविता-सी बात नहीं थी।

ईमानदारी से ली गई एक शपथ थी:

मैं अब खुद को दोबारा नहीं मिटाऊंगी।

किसी के काम के लिए नहीं।

किसी की उम्मीद के लिए नहीं।

किसी संस्कार के लिए नहीं।

ज़िंदा दिखने के लिए नहीं।

ताकतवर कहलाने के लिए नहीं।

किसी और के आराम के लिए नहीं।

अगर बीते हुए समय को दोबारा जीने का मौका मिले, तो मैं एक पल भी उन तरीकों से नहीं जीऊँगी जिन्होंने मुझे मौत के मुँह तक पहुँचा दिया था।

इस बार मेरी ज़िंदगी सच पर टिकी होगी — सहनशीलता पर नहीं।

आराम पर — माफ़ी पर नहीं।

मौजूदगी पर — काम पर नहीं।

और इसी शपथ ने सब बदल दिया।

पहली बार, मैं बिना किसी अपराध-बोध के सोई।

यह अध्याय यहीं खत्म होता है। मैं पूरी तरह ठीक नहीं हुई हूँ, पर यह शपथ — यही शपथ नए अध्याय की शुरुआत है।

अंतिम अध्याय जो औरत मैं बन गई

यह निष्कर्ष नहीं है।

यह घर वापसी है।

मैं उस औरत के पास नहीं लौटी, जो लगभग मर चुकी थी

"वर्षों तक, मैंने पूछा, 'यदि मैं उनकी नींद भंग कर दूँ, तो क्या मुझे अपनी जिंदगी जीने का अधिकार रहेगा?'"

अब आखिरकार मैं सत्य समझ चुकी हूँ:

जब तक सन्नाटा तोड़ने का साहस नहीं था, जिंदगी का अर्थ भी नहीं था।

लोग पुनर्जन्म की बात करते हैं। इसे पल भर का काम समझते हैं। मानो एक पल में सब कुछ परिवर्तित हो जाता है। मेरे साथ ऐसा नहीं हुआ।

मेरा पुनर्जन्म चुपचाप आया। मेरे निर्णयों पर किसी ने तालियाँ नहीं बजाईं। किसी भी हद पर जश्न नहीं मनाया गया। किसी भी बात पर 'ना' कहने में मेरा पुराना रूप खुद को ही समझाने में थक जाता था।

मैं नाटकीय ढंग से नहीं उठी।

मैं रोज़ उठी। थोड़ा-थोड़ा। मैं उस औरत के पास नहीं लौटी, जो सबको संभालते-संभालते मौत के दरवाज़े तक पहुँच गई थी।

मैं उससे अलग ही कुछ बन गई।

वह शरीर जो अब सौदा नहीं करता है

मौत के करीब पहुँचने वाले अनुभव के बाद, मेरे शरीर ने पुराने तौर-तरीकों को मानने से इनकार कर दिया। वह अब ज़बरदस्ती नहीं करता था। वह अब खुद को धकेलता नहीं था।

वह अब खुद को नुक़सान पहुँचाकर टिके रहना नहीं चाहता था। और ज़िंदगी में पहली बार, मैंने उसकी बात सुनी। जब मेरी छाती में खिंचाव महसूस हुआ, तो मैं रुक गई।

जब थकान फुसफुसाती, मैं आराम करती। जब मेरा शरीर खतरे की घंटी बजाता, मैं उसकी सुनती।

यह कमज़ोरी नहीं थी। यह समझ थी। देर से आई, पर पूरी आई। बचपन के बाद ज़िंदगी में पहली बार, मैं अपने शरीर के साथ खड़ी थी, उसके खिलाफ़ नहीं। और इस साझेदारी से मुझे कुछ अनमोल मिला:

भरोसा।

उपस्थिति।

अंतर्ज्ञान।

डर से बना अंतर्ज्ञान नहीं।

सच से बना अंतर्ज्ञान

बिना प्रदर्शन के उद्देश्य

पहले, मेरे हर काम में हड़बड़ी छुपी थी। ज़रूरत से ज़्यादा काम। हर वक्त हाज़िर। खुद को साबित करना। कोमा से लौटने के बाद, उद्देश्य पहले से ज़्यादा साफ़ हो गया। मैंने खुद से पूछा:

मैं क्या बनाना चाहती हूँ?

मैं अब क्या बर्दाश्त नहीं करती?

क्या मेरा है उठाने के लिए, और क्या कभी था ही नहीं?

औरतें मेरे पास इसलिए नहीं आती थीं कि मेरे पास उनके सवालनों के जवाब थे।

वे इसलिए आती थीं क्योंकि मेरे पास अपनी भाषा थी। मैं शादी की त्रासदी से बच निकली थी। तलाक़ झेल चुकी थी। समाज के फ़ैसले झेल चुकी थी। कानूनी लड़ाई। और मौत का किनारा। मैं अब किसी को जीना नहीं सिखा रही थी। मैं सिखा रही थी कि _गायब होना कैसे रोका जाए।_

तलाक़ की पार्टी ने मुझे दुनिया के सामने ला खड़ा किया।

मौत के करीब पहुँचने ने मुझे ज़िम्मेदार बना दिया।

मातृत्व, नए सिरे से लिखा गया

मातृत्व हमेशा के लिए बदल गया। मैंने खालीपन से बच्चों को पालना बंद कर दिया।

मैंने पूरी सजगता से उन्हें पालना शुरू किया।

मैंने अपनी भावनाओं को नाम दिया। मैंने आराम करने का तरीका सिखाया। मैंने अपने बेटों को मुझे रुकते हुए देखने दिया — इसलिए नहीं कि मैं कमज़ोर थी, बल्कि इसलिए कि मैं समझदार हो चुकी थी।

मेरे बच निकलने से उन्होंने डरना नहीं सीखा। उन्होंने हमदर्दी सीखी। मैं अब सिर्फ उनकी रक्षक नहीं थी। मैं उनकी मिसाल बन गई।

एक मुलायम बशावत

ज़िंदगी के ज़्यादातर हिस्से में, मैं एक ही कायदे के नीचे जीती रही:

रात को मत छोड़ो।

ज़्यादा मत माँगो।

किसी की नींद मत उड़ाओ।

तूने नींद खराब कर दी

इस एक जुमले ने सब कुछ बदल दिया। 2025 में, मैंने अपनी खामोश बगावत का ऐलान किया। बिना अपराधबोध के आराम किया।

ये टूटना नहीं था।

ये सिर्फ बच निकलना नहीं था।

ये नई जिंदगी का चुनाव था।

मैंने सारे प्लान रद्द किए। मैं धीमी हुई। मैं सोई। मैंने रुकने के लिए इजाज़त माँगना बंद कर दिया। नरमी ने मुझे कमज़ोर नहीं किया। उसने मेरी ताक़त को और ठोस किया।

जो मैं अब जानती हूँ

ये सच मेरी हड्डियों में बस चुके हैं:

- शरीर सच बोल देता है, दिमाग के सुनने से बहुत पहले।
- खामोशी हमेशा अमन नहीं होती — अक्सर यह खुद को मिटा देना है।
- सहते रहना मोहब्बत नहीं है। मोहब्बत में गायब नहीं हुआ जाता।
- बच निकलना मक़सद नहीं है। जीना है।
- खुशी अय्याशी नहीं है। ये दवा है।
- हठें तय करना खुदगर्ज़ी नहीं है। ये ऑक्सीजन है।
- फिर से शुरू करना नाकामी नहीं है। ये विकास है।
- खुद के पास लौटना ही असली घर वापसी है।

असली अंत

काफ़ी समय तक, मुझे लगा कि मेरी कहानी बच निकलने की कहानी है। वह तो बस बीच का हिस्सा थी। असली कहानी ये है:

मैंने खुद को दोबारा गढ़ा — उस औरत में जिसकी मुझे दशकों पहले सख्त ज़रूरत थी। उस औरत में जिसकी मेरे बेटों को आज ज़रूरत है। उस औरत में जिसे दूसरी औरतें देखें और सोचें, _अगर वह इन सब से गुज़र कर जी गई, तो शायद मैं भी जी सकती हूँ। मैंने यह किताब बहादुर साबित होने के लिए नहीं लिखी।_

मैंने इसे इसलिए लिखा क्योंकि खामोशी ने मुझे लगभग मार डाला था, और मैं फिर कभी खुद को मिटाने का हिस्सा बनने से इंकार करती हूँ।

मेरी ज़िंदगी उन लड़ाइयों से तय नहीं होती जो मैंने लड़ीं। यह उस औरत से तय होती है जो मैं उनके बाद बनी। और वो औरत — जो ये शब्द लिख रही है — अब सिर्फ़ बचती नहीं है।

वो जीती है।

ज़िंदगी में पहली बार, मैं यह जानते हुए सोती हूँ कि अब मुझसे कोई नहीं कहेगा,
तूने नींद खराब कर दी

बेटों के नाम खत

मेरे प्यारे बेटो,

तुम लोग जब कभी हैरान होगे कि मैंने इस कहानी को क्यों और कैसे लिखने का आत्मबल जुटाया, तो इसका कारण तुम लोग हो। इस कहानी के माध्यम से मैंने जिंदगी के उन हिस्सों को सबके सामने रखा है, जो दर्द भरे, बिखरे और नितांत निजी हैं। यह पुस्तक सफ़ाई नहीं है। यह माफ़ी माँगना नहीं है। यह पक्ष में दलील नहीं है।

यह दस्तावेज़ है कि किस प्रकार कभी-कभी प्यार और सच्चाई को उस साहस की आवश्यकता होती है, जिसे बहादुरी नहीं माना जाता।

सबसे पहले और हमेशा, मैं तुम लोगों को यह स्पष्ट करना चाहती हूँ कि चीज़ों के टूटने की वजह तुम लोग कभी नहीं थे। तुम्हीं लोगों के कारण मैं वहाँ ठहरी रही, जितना ठहरना संभव था। और तुम्हीं लोग ही वह वजह हो, जिसके कारण उस जगह को मुझे छोड़ना पड़ा। इन दोनों स्थितियों में अंतर है।

बरसों मैं यही समझती रही कि तुम दोनों को सुरक्षित रखने के लिए सबकुछ चुपचाप सहना ज़रूरी है। मैं सोचती थी कि तनाव, ग़म, थकान—सब मैं झेल लूँ, ताकि इन परेशानियों से तुम लोग बचे रहो। मेरा मानना था कि ताक़त का मतलब दर्द को पी जाना है, जिससे इसका एक भी छींटा तुम लोगों पर न पड़े।

मैं ग़लत थी। धीरे-धीरे और दर्द के साथ मैंने यह सीखा कि बच्चों को व्यवस्थित, स्थायी ठौर या दिखावा नहीं चाहिए बल्कि सत्य चाहिए। वे सुरक्षित जीवन चाहते

हैं। उन्हें ऐसे माता-पिता चाहिए, जिनकी उपस्थिति वे महसूस कर सकें, न कि माता-पिता महज़ कहने के लिए मौजूद रहें।

मिखेल, तुम इतने बड़े हो गए हो कि मैं तुम्हें जितना समझाना चाहती थी, उससे अधिक समझने की काबलियत तुममें थी। माहौल में होने वाले परिवर्तनों का अहसास तुम्हें था। तुमने भय को भाँप लिया, जबकि किसी ने भी उसका नाम नहीं बताया था। और जब मैं मौत के कगार पर थी, तुमसे वे प्रश्न पूछे गए जिनका उत्तर किसी भी बच्चे को न देना पड़े। तुमसे मेरी वसीयत के बारे में पूछा गया। यह भी पूछा गया कि यदि मैं ज़िंदा नहीं बची तो तुम क्या करोगे। मैं तुम्हें साफ़-साफ़ बताना चाहती हूँ कि यह स्थिति इसलिए नहीं पैदा हुई कि मैं कमज़ोर थी। यह पल इसलिए आया कि मैं लंबे समय तक काफ़ी मज़बूत थी।

और जब तुमने यह कहा, "मैं दोबारा ऐसा नहीं करूँगा", तुम अभिनय नहीं कर रहे थे, तुम स्वतंत्र अस्तित्व चाह रहे थे।

तुम अपना प्रभाव-क्षेत्र बना रहे थे। मुझे अपनी हृद की लकीर खींचनी कभी नहीं आई। शे, तुम भी वही थे। पूरे समय मौजूद थे। तुम इतने करीब थे कि मेरी गैर-मौजूदगी, मेरा डर, मेरी प्रतीक्षा-तुम सब महसूस कर रहे थे। पर तुम्हें मना किया गया था कि तुम मुझे उस स्थिति में मत देखो। तुमने मेरे बदन पर लगी मशीनों, ट्यूबों को नहीं देखा था। मगर तुम्हारा शरीर जानता था कि कुछ तो ठीक नहीं था। बच्चे हमेशा जान जाते हैं।

मैं तुम दोनों को कुछ समझाना चाहती हूँ, जिसे मैंने देर से सीखा: प्यार का मतलब खुद को मिटा देना नहीं है। ताकत सेहत की कीमत पर नहीं चाहिए। ज़िम्मेदारी उठाने का अर्थ यह नहीं कि अपने प्रति बेपरवाह हो जाओ। तुम्हारी ज़िंदगी में ऐसे पल आएँगे, जब रिश्तों में, काम के क्षेत्र में, तुमसे लगातार उम्मीदें की जाएँगी। तुम पर ऐसी स्थितियों को सहने के लिए दबाव बनाया जाएगा, जो धीरे-धीरे तुम्हें तोड़ देंगी। तुमसे आगे बढ़ने, मज़बूत बनने, सामना करने और त्याग करने के लिए कहा जाएगा।

जब मैं यह कहती हूँ तो मेरी बातों को ध्यानपूर्वक सुनो: किसी मुद्दे पर डटे रहने और खुद का नुकसान करने में अंतर है। तुम ऐसी ताकत हासिल करो, जिससे तुम्हारी जिंदगी फले-फूले। मैंने इसलिए साथ नहीं छोड़ा था कि मैं प्यार नहीं करती थी। मैंने इसलिए साथ छोड़ा कि मैं जिंदा रहना चाहती थी। अपने तरीके से जीवन जीना, सबसे साहसी कदमों में से एक था, जबकि मैं बाहर से साहसी नहीं दिखती थी।

मेरी कहानी से तुम कुछ सीखना चाहो तो वह यह है:

प्यार पाने के लिए दुख सहना जरूरी नहीं है।

स्वयं को थकाकर अपनी क्षमता दिखाने की आवश्यकता नहीं है।

किसी के प्रति वफ़ादार बनने का अर्थ यह नहीं है कि स्वाभिमान पर चोट पहुँचे।

प्यार से सुरक्षा का एहसास होना चाहिए।

घर साँस लेने लायक होना चाहिए।

और तुम्हारी आवाज़ सुनाई पड़े, इसके लिए चिल्लाना न पड़े।

मुझे विश्वास है कि तुम बड़े होकर बेचैनी और तकलीफ़ में भी सहजता के साथ बैठ सकोगे।

तुम असीमित प्यार करो,

बग़ैर किसी शर्म के अपना काम करो।

तुम आराम करो तो खुद को दोषी न मानो।

मुझे विश्वास है कि तुम्हारी जीवनसाथी तुमसे भयमुक्त होकर ईमानदारीपूर्ण संबंध रखेगी। जो तुम्हें संपूर्ण इंसान मानकर खुश हो, न कि इसलिए खुश हो कि तुम उसकी हाँ में हाँ मिलाते हो। जो तुम्हारे सहने को समर्पण न माने।

और यदि तुम कभी ऐसे दौराहे पर खड़े हो और यह तय नहीं कर पा रहे हो कि वहीं रुको या आगे बढ़ो, तो मैं आशा करती हूँ कि तुम यह याद रखोगे: तुम्हारे जीवन में

परिवर्तन संभव है। तुम्हारे सत्य में विकसित होने की अनुमति है। खुद को चुनना, दूसरों को छोड़ना नहीं होता।

मुझे अपने हर फ़ैसले पर गर्व नहीं है, लेकिन मुझे गर्व है कि मैंने सीखा। मुझे गर्व है कि आखिरकार जब शरीर ने सच बोला, तो मैंने उसकी आवाज़ सुनी। मुझे गर्व है कि मैं ज़िंदा बच गई और अपने तरीके से जीने का निर्णय लिया।

सबसे पहले तो तुम्हारी माँ होने का मुझे गर्व है।

मैं जो भी बनी, तुम्हारे देखते-देखते बनी।

मैंने जो भी वापस पाया, इसलिए पाया ताकि तुम मोहब्बत को दर्द से, ताक़त को ख़ामोशी से कभी न जोड़ो।

यह किताब यहाँ ख़त्म होती है, लेकिन तुमसे किया मेरा वादा नहीं।

मैं ईमानदारी चुनती रहूँगी। मैं सेहत की सुनती रहूँगी। मैं ऐसी ज़िंदगी चुनती रहूँगी जहाँ मोहब्बत की क़ीमत 'खुद' नहीं है।

हमेशा,

जागती हुई औरत के नाम

कोई हंगामा नहीं, कोई नाटकीयता नहीं। मैं बस साफ़-साफ़ कुछ कहना चाहती हूँ। सबसे पहले यह कह दूँ कि यदि इस किताब का कोई भी हिस्सा तुम्हें विचलित करता है, तुम्हारे सीने में एक कसाव-सा महसूस होता है, यदि पढ़ते-पढ़ते तुम एक से ज्यादा बार रुक जाती हो, और किताब में दर्ज पल तुम्हें अपने-से लगते हैं, जिन्हें तुमने कभी जोर से कहा नहीं — तो यह महज़ संयोग नहीं है।

तुम्हारा शरीर इसे पहचानता है।

क्योंकि यह कहानी केवल मेरी नहीं है। यह उस औरत की कहानी है जिसने बहुत कम उम्र में ही माहौल को पढ़ना सीख लिया था। वह औरत जो सबके भावनात्मक उतार-चढ़ाव का खयाल रखती है।

वह औरत जो हर चीज़ को ठीक कर देती है, ताकि किसी और को असुविधा न झेलनी पड़े। वह औरत जो लगातार चलती रहती है क्योंकि उसे रुकना ख़तरनाक लगता है।

वह औरत जो सारी रात जागती है — इसलिए नहीं कि उसे नींद नहीं आती, बल्कि इसलिए कि वह चैन से सो नहीं पाती।

हमारे समाज में अक्सर इसे कोई नाम नहीं दिया जाता।

हम सहनशीलता की सराहना करते हैं। हम चुप्पी को इनाम देते हैं।

हम 'समझौता करने' को 'ताकत' समझते हैं। हम 'बचे रहने' को 'काबिलियत' मान लेते हैं। और हम एक ऐसे नियम को अपना लेते हैं जो इतना गहरा है कि नैतिकता-सा लगता है:

शांति भंग मत करो।

परेशानियों को और जटिल मत बनाओ।

किसी की नींद में खलल डालने की वजह मत बनो।

"तुमने नींद खराब कर दी।"

कभी-कभी यह बात ज़ोर से कही जाती है, पर ज़्यादातर यह हमारे अंदर बिठा दी जाती है।

यही वजह है कि तुम चलते-चलते ठिठक जाती हो।

इसीलिए तुम सच्ची बात को घुमा फिरा कर कहती हो।

यही वजह है कि तुम अपनी ज़रूरतों को दबा लेती हो।

यही वजह है कि घर के शांत हो जाने के बहुत देर बाद भी तुम्हारा शरीर सतर्क बना रहता है।

और ये वो सच है जो काश मुझे किसी ने पहले बता दिया होता:

सिर्फ सहनशक्ति पर टिकी हुई ज़िंदगी अंत में तुम्हारे शरीर से उसकी कीमत वसूलती है, सबूत के तौर पर

यह किताब असल में किस बारे में है

यह तलाक़ के बारे में किताब नहीं है।

यह मौत को छूकर लौट आने के एहसास पर किताब नहीं है।

यह जीने की जंग में बच जाने पर भी किताब नहीं है।

यह किताब उस बारे में है कि तब क्या होता है जब एक औरत बहुत लंबे समय तक शालीनता से गायब हो जाती है।

उस बारे में है कि तब क्या होता है जब ताकत ही उसकी इकलौती पहचान बन जाती है।

जब आराम करना उसे खतरा लगने लगता है।

जब शांति उसके लिए कुछ ऐसा हो जाती है जिसका वह दूसरों के लिए इंतज़ाम करती है, न कि जिसमें वह खुद रहती है।

मेरा शरीर मेरी आवाज़ से पहले रुक गया।

वह मेरी कमज़ोरी नहीं थी।

वह देर से आई समझ थी।

अगर तुम अभी भी उस लंबे बीच के दौर में हो, तो यह बात बिना डरे सुन लो:

तुम्हारी थकान कोई असफलता नहीं है।

कुछ चाहना कोई गुनाह नहीं है।

तुम्हारे शरीर में कोई खराबी नहीं है।

वह तुमसे बात कर रहा है।

एक ठहराव, कोई योजना नहीं

मैं तुमसे तुम्हारी शादी छोड़ने के लिए नहीं कह रही।

मैं तुमसे तुम्हारे परिवार से टकराने के लिए नहीं कह रही।

मैं तुमसे यह नहीं कह रही कि पूरी तरह मज़बूत हुए बिना खुद को बहादुर मान लो।

मैं बस इतना कह रही हूँ, "थोड़ा ठहरो"।

और इन बातों पर गौर करो:

- क्या तुम ऐसी स्थितियाँ बर्दाश्त कर रही हो जिन्हें तुम अपने लिए सुरक्षित नहीं मानतीं?

- क्या तुम इस उलझन में हो कि लोग तुम्हें चाहते हैं या उन्हें तुम्हारी ज़रूरत है?

- क्या तुम्हारे लिए आराम कमाने की चीज़ है, या तुम्हारा हक़?

- तुम किसकी शांति के लिए अपनी शांति की कीमत चुका रही हो?

- क्या तुम अपने शरीर की ज़रूरतें जुबान से कह पाती हो?

इन सवालों का जवाब आज ही देना ज़रूरी नहीं है।

इनका हल निकालना भी ज़रूरी नहीं है।

तुम्हें चाहिए सिर्फ़ ईमानदारी — जो नर्म हो, निजी हो, और पूरी तरह तुम्हारी अपनी।

जहाँ से काम आगे बढ़ता है

मैंने यह किताब ज़िंदगी का कोई अध्याय खत्म करने के लिए नहीं लिखी।

मैंने इसे इसलिए लिखा ताकि उस ख़ामोशी को शब्द दे सकूँ जिसने मुझे लगभग मार ही डाला था। और मैं जानती हूँ कि आज भी बहुत-सी औरतें उसी ख़ामोशी में जी रही हैं।

अगर यह किताब तुम्हें अपनी बात कहने की भाषा देती है, हिम्मत देती है, और इतनी इजाज़त देती है कि तुम सब ठीक है के दिखावे पर रोक लगा सको —

तो इसने अपना काम शुरू कर दिया है।

और फिर एक दिन — चाहे हिम्मत से, टूटकर, साफ़ दिखाई देने से, या मजबूरी से

—

तुम्हारे भीतर कुछ ऐसा उठेगा जो अब और चुप रहने से इनकार कर देगा।

बिना शोर के। बिना लड़ाई के।

मगर पूरी ताक़त के साथ।

क्योंकि सबसे गहरा विद्रोह छोड़कर जाना नहीं है।

सबसे गहरा विद्रोह है — खुद की ओर लौट आना।

और आखिरकार, जब तुम ऐसी ज़िंदगी को अपना लेती हो — जहाँ सब सही लगता है, शरीर ठीक लगता है, और एक ऐसी सच्चाई से भरी ज़िंदगी जिसके लिए किसी की इजाज़त नहीं चाहिए —

तब तुम जान जाओगी:

कि अब पहली बार, तुमसे कोई ये नहीं कह सकेगा —

तुमने नींद खराब कर दी।

और न तुम खुद से कह पाओगी।

अभी तक जागी हुई औरत के लिए राह दिखाते कुछ विचार

यहाँ कोई हड़बड़ी नहीं है।

कोई जवाब 'सही' नहीं होता।

कोई अंतिम मंज़िल नहीं जहाँ पहुँचना है।

तुम्हें अभी सब कुछ कर लेने की ज़रूरत नहीं।

अगर कुछ ज़्यादा लग रहा है, तो उसे छोड़ दो। लिखना ज़रूरी नहीं।

सच्ची बनी रहो, चाहे वो बात कितनी भी निजी क्यों न हो।

दूसरों के सुकून के लिए मैं अब भी कहाँ खामोश हूँ?

एक मिनट रुको।

खुद को सही साबित मत करो। सफ़ाई मत दो। नर्म मत पड़ो।

सिर्फ़ ग़ौर करो:

- तुम अपना सच कहाँ छुपा लेती हो, क्योंकि खामोश रहना आसान लगता है?
 - तुमने कहाँ सीखा कि चुप रहना, सच बोलने से ज़्यादा ज़रूरी है?
 - तुम्हारी चुप्पी से किसका लाभ है — और उसकी कीमत कौन चुका रहा है?
- अगर तुम्हें लगता है कि किसी औरत के लिए सबसे बुरी बात ये सुनना है कि — तुमने नौद खराब कर दी है —

तो धीरे से खुद से पूछो:

दूसरे चैन से सो सकें, इसके लिए मैंने कितनी कीमत चुकाई है?

2. _मेरा शरीर मुझे क्या बताने की कोशिश कर रहा है?_

तुम्हारा शरीर नाटक नहीं करता।

यह कमज़ोर नहीं है।

यह तुम्हें धोखा नहीं दे रहा।

यह तुमसे बात कर रहा है।

- तुम सबसे ज़्यादा तनाव कहाँ महसूस करती हो?
- आराम के बाद भी तुम सबसे ज़्यादा थकी हुई कब लगती हो?
- जिंदगी तो ऐसी ही होती है कहकर तुमने किन तकलीफ़ों को आम मान लिया है?

बिना डरे, खुद से पूछो:

अगर मेरा शरीर बिना टोके बोल पाए, तो वो क्या कहेगा?

अभी कुछ ठीक करने की ज़रूरत नहीं है।

सिर्फ सुनना ही काफी है।

3. _आराम कब से कमाई जाने वाली चीज़ बन गया?_

यहाँ ईमानदार रहना — ये वाला ज़रूरी है।

- क्या तुम तभी आराम करती हो जब बीमार पड़ो, बेहद तनाव में हो, या सब बर्दाश्त से बाहर हो जाए?

- क्या धीमा पड़ने के लिए तुम माफ़ी माँगती हो?

- जब तुम कुछ नहीं करतीं, तो क्या खुद को दोषी मानती हो?

खुद से पूछो:

मुझे किसने सिखाया कि मेरी कीमत सहने से नापी जाती है?

और फिर, धीरे से:

बिना टूटे आराम कैसा लगेगा?

4. _मैं अपने किस रूप से डरती हूँ?_

कई बार हम इस वजह से नहीं रुके रहते हैं कि हम कमजोर हैं।

हम इसलिए रुक जाते हैं क्योंकि छोड़ने या बदलने का मतलब होगा, स्वयं के लिए अजनबी हो जाना।

खुद से पूछो:

यदि मैं स्वयं के बारे में सोचूँ तो नाराज़गी किसे होगी?

यदि मैं सच बोलूँ तो परेशानी किसे होगी?

मैं किस आरोप से डरती हूँ?

इसके बाद और भी कठिन प्रश्न पूछो:

क्या खोने की आशंका से मैं भयभीत रहती हूँ — और जैसी थी, वैसी ही बनी रहकर मैंने अब तक क्या खो दिया है?

5. _शांति का मेरे लिए असल में क्या मतलब है?_

शांति काम नहीं है।

शांति चुप्पी नहीं है।

शांति सबको बाँधकर रखना नहीं है।

तुम्हारी शांति:

- क्या तुम्हारी मौजूदा ज़िंदगी तुम्हें भरपूर साँस लेने देती है?

- तुम जहाँ भी हो, क्या भावनात्मक रूप से सुरक्षित महसूस करती हो?

- बिना समझौता किए क्या तुम वही रह सकती हो, जो तुम हो?

विनम्रतापूर्वक खुद से पूछो:

क्या यह शांति है — या वह खामोशी है जिसके साथ मैंने जीना सीख लिया है?

6. _यदि मुझे पता हो कि कोई मेरा न्याय नहीं करेगा, तो क्या मैं स्वीकार कर लूँगी?_

यह प्रश्न सिर्फ़ तुम्हारे लिए है।

कोई परिणाम नहीं।

कोई सफ़ाई नहीं।

कोई देख नहीं रहा है।

इस वाक्य को पूरा करो, यदि यह अब भी तुम्हारे दिमाग में है।

यदि मैं पूरी तरह ईमानदार होऊँ, तो मैं स्वीकार करूँ कि...

जो भी सामने आए, वह मान्य है।

भले ही वह डराए।

भले ही वह तुम्हारी मौजूदा ज़िंदगी के खिलाफ़ हो।

सच्चाई तुरंत कोई कदम उठाने की माँग नहीं करती।

वह बस स्वीकारे जाने की माँग करती है।

7. _खुद के प्रति निष्ठा की दिशा में एक छोटा कदम_

यह किताब तुमसे यह नहीं कह रही कि तुम अपनी ज़िंदगी जला दो।

यह तुमसे सिर्फ़ एक काम माँग रही है:

अपने प्रति निष्ठावान होने के लिए एक छोटा-सा कदम।

वह ऐसा हो सकता है:

- बिना सफ़ाई दिए ना कहना।
- रात में समय पर सो जाना।
- किसी से अपनी सच्ची भावनाएँ साझा करना।
- मदद माँगना।
- यदि शरीर में ऊर्जा न हो, तो कार्यक्रम रद्द कर देना।
- बिना सफ़ाई दिए आराम के लिए समय निकालना।

खुद से पूछो:

इस हफ़्ते मैं कौन-सा एक काम कर सकती हूँ जो मेरा सम्मान करे — दूसरों की अपेक्षा वाला मेरा संस्करण नहीं?

किताब बंद करने से पहले

यदि तुम और कोई सबक न लो, तो यह सबक ले जाओ:

तुम समस्या नहीं हो।

तुम नाटकीय नहीं हो।

तुम्हारी माँगें ज़रूरत से ज़्यादा नहीं हैं।

तुम थकी हुई हो क्योंकि एक ही ज़िंदगी में तुम एक से ज़्यादा ज़िंदगियों का भार ढो रही हो।

और तुम्हें पूरा हक़ है — बिना किसी से माफ़ी माँगे, पूरा हक़ है — कि तुम अपनी ज़िंदगी ऐसी बनाओ जहाँ कोई यह न कह सके:

तुमने नींद खराब कर दी

क्योंकि पहली बार,

तुम्हारा आराम भी मायने रखता है।

एक आखिरी सच — और फिर मैं तुम्हें जाने दूँगी

आराम का हक़ पाने के लिए तुम्हें मेहनत नहीं करनी थी।

प्यार पाने के लिए तुम्हें चुपचाप तकलीफ़ नहीं सहनी थी।

बाकी सब सो सकें, इसलिए तुम्हें जागना नहीं था।

तुम्हारा होना कोई दख़ल नहीं है। तुम्हारा सच बोलना कोई रुकावट नहीं है।

तुम्हारी ज़रूरतें बोझ नहीं हैं।

तुम्हें ऐसी ज़िंदगी जीने का हक़ है जिसकी कीमत तुम्हें अपना शरीर देकर न चुकानी पड़े।

और अगर इस किताब ने तुम्हें कुछ और नहीं, बस एक बार भी लंबी, गहरी साँस लेने में मदद कर दी —

— तो यह सिर्फ़ एक कहानी नहीं रही।

यह एक शुरुआत है।

लेखिका के बारे में

सोनिया गुप्ता अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त लेखिका, वक्ता और मार्गदर्शक हैं। उनका काम सांस्कृतिक रूप से तय की गई जिंदगियों में आत्म-सम्मान, पहचान और औरतों के टिके रहने के संघर्ष को सामने लाना है।

वे एक दक्षिण एशियाई परिवार में पली-बढ़ीं, जहाँ औरतों की सहनशीलता की तारीफ़ होती थी और उनसे चुप रहने की उम्मीद की जाती थी। सोनिया ने सालों तक ऐसी व्यवस्था में तालमेल बिठाने की कोशिश की जहाँ उन्हें सब कुछ, वैवाहिक जीवन, माँ बनना, इज़्ज़त, परिवार की शांति, सँभालना था। अक्सर अपनी सेहत और जिंदगी के दूसरे पहलुओं की क्रीमत पर उन्हें ऐसा करना पड़ता था।

अपने सफ़र में उन्हें 12 साल लंबी बिना आपसी प्यार और ताल मेल के शादी को निभाया तथा जब तलाक़ की प्रक्रिया शुरू हुई तबलगातार भावनात्मक और सांस्कृतिक दबाव, सालों तक नींद न आना और एक जानलेवा बीमारी से जूझना पड़ा। इस बीमारी ने उन्हें सोचने पर मजबूर किया कि शरीर के जवाब देने से पहले एक औरत कितना बोझ उठा सकती है।

2021 में सोनिया ने अपने तलाक़ को जश्न के रूप में सार्वजनिक स्तर पर मनाने का फैसला किया। यह फैसला वायरल हो गया और दुनिया भर में बहस छिड़ गई — शर्म, आज़ादी और भारतीय महिलाओं से चुपचाप सहने की उम्मीद पर। इसके बाद जो हुआ वह शोहरत के लिए नहीं, बल्कि ज़िम्मेदारी के लिए था। औरतें तत्काल ही निजी तौर पर उनसे जुड़ने लगीं, क्योंकि उन्हें सोनिया की सच्चाई में अपनी जिंदगी की झलक दिखी।

अपने प्लेटफ़ॉर्म It's a Sonia Thing के ज़रिए सोनिया अब रिश्तों में आत्म-सम्मान, माँ होने का अपराधबोध, मानसिक जट्टोजहद की थकान, सामाजिक चुप्पी और औरतों के उस अनदेखे श्रम पर बोलती और लिखती हैं जो वे दूसरों की शांति और नींद बचाने के लिए करती हैं।

तुमने नींद खराब कर दी उनकी पहली किताब है।

यह पुस्तक किसी किताबी ज्ञान या सिद्धांतों पर आधारित नहीं, बल्कि जिए हुए अनुभव से लिखी गई है। यह अनुभव हासिल हुआ है -- बिना आराम के गुजारे गए सालों से, बिना इजाज़त लिए गए फ़ैसलों से, और उस पल से जब उन्होंने मानना छोड़ दिया कि व्यवस्था को हिलाने से ज़्यादा गलत उसमें खो जाना है। सोनिया ब्रिटेन में रहती हैं और दो बेटों की माँ हैं।

आज वह चैन से सोती हैं — यह जानते हुए कि अब कोई उनसे नहीं कह सकता, तुमने नींद खराब कर दी।